मार्क्सवादी अर्थशास्त्र

लेखक
शंकर दयाल तिवारी

समाजवादी साहित्य सदन, कानपुर

प्रकाशक :

शंकर दयाल तिवारी

०

मुद्रक :

शान्ति प्रेस, लखनऊ

मूल्य : ४ रुपया

विषय-सूची

भूमिका

मार्क्स का दर्शन भौतिकवादी है। द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद उस दर्शन का सारतत्व है। विश्व की भौतिकवादी व्याख्या के आधार पर मार्क्स इस नतीजे पर पहुंचे थे कि समाज में भी उसकी तत्कालीन "आर्थिक व्यवस्था ही वह बुनियाद होती है जिस पर (उसका) राजनीतिक ढांचा खड़ा किया जाता है" (लेनिन)। इस निष्कर्ष पर पहुंचने ही मार्क्स समाज की आर्थिक व्यवस्था के अध्ययन में जुट गये। उनका महान ग्रंथ "पूंजी" इसी अध्ययन का परिणाम था। इस ग्रंथ में आधुनिक पूंजीवादी युग की अर्थ-व्यवस्था का गहरा अध्ययन प्रस्तुत किया गया है और बतलाया गया है कि मौजूदा पूंजीवादी समाज की सभी मान्यताओं सभी कायदे-कानूनों का आधार उसकी पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था है जिसका आमूल परिवर्तन किए बगैर समाज व्यवस्था में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं लाया जा सकता।

लेनिन के शब्दों में, "उत्पत्ति, विकास और अवसान सभी अवस्थाओं में ऐतिहासिक तौर पर पारिभाषित समाज के उत्पादन के सम्बन्धों की जांच पड़ताल ही मार्क्सवादी अर्थशास्त्र का सारतत्व है।"

वैसे जब हम मार्क्सवादी विचारधारा की बात करते हैं तो उसमें कार्ल मार्क्स के विचारों के सभी पक्षों–दार्शनिक, अर्थनीतिक और राजनीतिक–का बोध होता है और इनमें से किसी भी पक्ष को मार्क्सवाद से अलग नहीं किया जा सकता। मार्क्स की विचारधारा के केवल दार्शनिक अथवा

अर्थनीति या राजनीतिक पक्ष को मार्क्सवाद नहीं कहा जा सकता। फिर भी मार्क्स का आर्थिक सिद्धान्त उनकी विचारधारा का एक प्रमुख अंग है और मार्क्सवाद से मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्तों के अलग किए बगैर मुश्किल है; उसका समझ में आना असम्भव है।

मार्क्स के दार्शनिक पक्ष अर्थात् द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद पर हिन्दी में कई एक पुस्तकें उपलब्ध होने पर भी उनके आर्थिक पक्ष अर्थात मार्क्सवादी अर्थशास्त्र पर कोई पुस्तक (बड़ी या छोटी) उपलब्ध न थी। डा० शंकर दयाल ने मार्क्सवादी अर्थशास्त्र पर यह पुस्तक लिखकर हिन्दी साहित्य के इस बहुत बड़े अभाव को पूरा किया है। पुस्तक की भाषा बड़ी आसान है और इसमें कठिन विषय को रोचक तथा सरल शैली में प्रस्तुत कर सकने के लिए लेखक निश्चय ही बधाई का पात्र है।

पूंजीवाद से समाजवाद में संक्रमण के अपने इस युग में समाजवाद के लिए संघर्षरत अपने साथियों के लिए यह पुस्तक विशेष रूप से उपयोगी है। पूंजीवाद कैसे आया, पूंजीपति मजदूर को कैसे ठगता है, कैसे उसका शोषण करता है, इस समाज की क्या असंगतियां हैं, जनता के हित में इस समाज व्यवस्था का अन्त क्यों आवश्यक है, पूंजीवाद का पतन क्यों अवश्यम्भावी है आदि विषयों पर प्रकाश डालने के साथ साथ पुस्तक के अन्त में समाजवादी अर्थ-व्यवस्था पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। पुस्तक समाजवाद, साम्यवाद के लिए प्रयत्नशील कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों और कार्यकर्ताओं, मार्क्सवाद के विद्यार्थियों, स्कूलों और कालेजों के छात्रों सबके लिए समान रूप से उपयोगी है।

शिव वर्मा

मार्क्सवादी अर्थशास्त्र

मार्क्सवादी विचारधारा के तीन मुख्य अंग हैं—(१) उसका दर्शन (२) उसका अर्थशास्त्र और (३) समाजवाद के सम्बन्ध में विचार। मार्क्सवाद के इन तीनों अङ्गों का उल्लेख करते हुए लेनिन ने लिखा है कि यही मार्क्सवाद के तीन स्रोत भी हैं। (लेनिन—सेलेक्टेड वर्क्स पृ० ५९, मास्को संस्करण १९४६ ई०)

मार्क्सवादी दर्शन एक भौतिकवादी दर्शन है। मार्क्स और एञ्जेल्स ने लगातार भौतिकवादी दृष्टिकोण की उसके विरोधियों से रक्षा की तथा इस दृष्टिकोण को और भी अधिक सम्पन्न बनाया। मार्क्स ने भौतिकवादी दृष्टिकोण को केवल प्रकृति पर ही नहीं लागू किया बल्कि इसी दृष्टिकोण से इतिहास का भी अध्ययन और विश्लेषण किया। इतिहास और मानव समाज पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दृष्टि से विचार करते हुए मार्क्स ने यह नतीजा निकाला कि मानव समाज की सभी विचारधाराओं और उसके विभिन्न प्रकार के संगठनों (राजनीतिक, सांस्कृतिक वगैरह) का निर्माण आर्थिक ढाँचे की बुनियाद पर होता है।

यह प्रदर्शित करके कि समाज का राजनैतिक ढाँचा उसकी आर्थिक व्यवस्था के आधार पर कायम होता है, मार्क्स ने पूँजीवादी समाज की आर्थिक प्रणाली के नियमों का अध्ययन किया और यह बतलाया कि पूँजीवादी समाज की विशेषता क्या है, इस समाज में किस प्रकार मजदूर अपनी श्रम-शक्ति बेचने के लिए मजबूर होता है और जमीन, कारखानों तथा उत्पादन के अन्य साधनों के मालिक मजदूर को केवल उसके

गुजर-बसर के लिए वेतन देकर उसकी श्रम-शक्ति खरीद लेते हैं और इस श्रम-शक्ति का उपयोग मजदूर के वेतन से कहीं अधिक मूल्य की वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए करते हैं और मुनाफा कमाते हैं। मार्क्स ने कहा. मजदूर के काम के समय का एक भाग उसकी मजदूरी पैदा करने के काम में आता है तथा दूसरा भाग मालिक के लिए अतिरिक्त-मूल्य पैदा करने के काम में आता है। यही अतिरिक्त मूल्य पूंजीपति वर्ग के मुनाफे का स्रोत है।

मार्क्सवादी अर्थशास्त्र का आधार यही अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त है।

मार्क्स से पहले भी अन्य ऐसे विचारक हो चुके थे जिन्होंने पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के शोषण और अन्याय के विरुद्ध आवाज उठायी थी और समानता तथा न्याय के सिद्धान्तों के अनुसार समाजवाद की स्थापना की कल्पना की थी। मार्क्सवादी—लेनिनवादी साहित्य में इन्हीं विचारकों का उल्लेख "काल्पनिक समाजवादियों" के नाम से किया जाता है।

काल्पनिक समाजवादियों की कमजोरी यह थी कि वे पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था के विकास के नियमों को समझाने में असमर्थ थे। उन्हें नहीं मालूम था कि पूंजीवाद के अन्तर्गत मजदूरी के आधार पर स्थापित गुलामी का सारतत्व क्या है और पूंजीवादी व्यवस्था को खतम करने वाली सामाजिक शक्ति कौन सी है। मार्क्स ने पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का विश्लेषण करते हुए यह भी बतलाया कि इस अर्थव्यवस्था को खतम करने वाली शक्ति कहीं बाहर नहीं है बल्कि इसी व्यवस्था के अन्तर्गत पैदा होती है। वह शक्ति है—मजदूर वर्ग। मजदूर वर्ग ही समाजवाद का निर्माण करेगा। मार्क्स का यह निष्कर्ष इतिहास के विकास के अनुभव के आधार पर निकाला गया था जो यह बतलाता है कि समाज के विकास को आगे ले जाने वाली शक्ति है समाज के विभिन्न वर्गों का संघर्ष। यही मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त कहलाता है।

इस प्रकार मार्क्सवादी अर्थशास्त्र का अध्ययन मजदूर वर्ग और उसकी पार्टी के कार्यकर्ताओं के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के सिद्धान्त न केवल पूंजीवादी समाज की आर्थिक गतिविधि और उसके अन्तर्विरोधों की जानकारी में मदद देते हैं वरन् उनसे यह भी मालूम होता है कि आगे चलकर समाजवाद का निर्माण किस प्रकार होगा।

अर्थशास्त्र का विषय

प्रकृति के नियमों की भांति समाज की अर्थव्यवस्था के भी नियम होते हैं। प्राकृतिक नियमों और अर्थव्यवस्था के नियमों में इस अर्थ में समानता होती है कि यह दोनों ही अपना अस्तित्व वस्तुगत रूप से रखते हैं। इसका अर्थ है कि यह नियम किसी भी विचारक के मस्तिष्क की उपज नहीं होते हैं, इनका स्वतंत्र अस्तित्व होता है और इनकी जानकारी प्राप्त करना विचारकों का काम है।

इसके साथ ही साथ प्राकृतिक नियमों तथा आर्थिक व्यवस्था के नियमों में एक बड़ा अन्तर भी होता है। अर्थ व्यवस्था के नियम प्राकृतिक नियमों की भांति व्यापक और स्थायी नहीं होते हैं। एक अर्थ-व्यवस्था के नियम दूसरी अर्थ-व्यवस्था पर नहीं लागू किये जा सकते हैं अर्थात् आर्थिक व्यवस्थाओं के परिवर्तनों के साथ साथ इन नियमों में भी परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के रूप में आज की पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के नियम भूतकाल की सामन्तवादी आर्थिक व्यवस्था से भिन्न है और समाजवादी अर्थ व्यवस्था के नियम पूंजीवाद तथा सामन्तवाद दोनों से ही भिन्न होंगे।

अर्थशास्त्र अथवा राजनीतिक अर्थशास्त्र का विकास एक विज्ञान के रूप में पूंजीवाद के अभ्युदय के साथ साथ हुआ। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इससे पहले किसी ने भी समाज की आर्थिक व्यवस्था के नियमों के सम्बन्ध में विचार ही नहीं किया था। भारत में भी कौटिल्य ने अर्थशास्त्र की रचना उस समय की थी जब भारत का सामन्तवाद अपने प्रारम्भिक

दौर में था और ईसा से तीन शताब्दी पूर्व मौर्य साम्राज्य का उत्थान हो रहा था। इसके बाद अथवा इसके समकालीन स्मृतिग्रंथों ने भी आर्थिक व्यवस्था पर किसी हद तक अपने विचार व्यक्त किये। किन्तु इन ग्रंथों में भारतीय समाज की अर्थ-व्यवस्था के नियमों का वैज्ञानिक अध्ययन करने के स्थान पर राज्य की ओर से जारी किये जाने वाले आर्थिक कानूनों का उल्लेख था।

योरोप में जब पूंजीवाद ने जन्म लिया और प्रगति के मार्ग पर बढ़ लगा तो उस समय खासकर ब्रिटेन में (जो पूंजीवाद की प्राचीन भूमि है, ऐडम स्मिथ, विलियम पट्टी और डेविड रिकार्डो जैसे महान अर्थशास्त्र वेत्ता पैदा हुए जिन्होंने नवजात पूंजीवाद के आर्थिक नियमों की वैज्ञानिक खोज की। इन लेखकों के सामने प्रश्न यह नहीं था कि पूंजीवाद की बुराइयों पर किस तरह पर्दा डाला जाय, जैसा कि आजकल पूंजीवाद के पतन के दौर में पूंजीवादी अर्थशास्त्री करते हैं। उन्होंने पूंजीवादी व्यवस्था को चलाने वाले वस्तुगत नियमों को जानने की कोशिश की। मार्क्स ने अर्थशास्त्र के इन्हीं पण्डितों के विचारों को अपने चिन्तन का आधार बनाया और इन विचारों को और आगे बढ़ाया, उनकी त्रुटियों तथा कमजोरियों को दूर किया। इस प्रकार मार्क्स ने अर्थशास्त्र की सर्वोत्तम प्राप्य सामग्री का इस्तेमाल किया।

मार्क्सवादी अर्थशास्त्र केवल समाज की उत्पादन प्रणाली पर ही विचार नहीं करता है बल्कि उसका विचारणीय विषय यह भी है कि उत्पादन प्रणाली के अन्तर्गत समाज के विभिन्न अंगों में किस प्रकार के सम्बन्ध कायम हैं। इस प्रकार मार्क्स का राजनीतिक अर्थशास्त्र सामाजिक उत्पादन और सामाजिक वितरण दोनों ही के नियमों पर विचार करता है।

दूसरा अध्याय / पूंजीवाद की विशेषताएं

मार्क्स ने पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था को मानव-समाज के विकास की एक ऐतिहासिक मंजिल के तौर पर माना। इस मंजिल पर पहुंचने के पहले मानव-समाज और भी कई मंजिलें पार कर चुका था। मार्क्स ने अपने ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त के अनुसार इन अवस्थाओं का वर्णन किया। पूंजीवाद से पहले की अवस्थाओं के नाम क्रमश: इस प्रकार है—आदिम साम्यवाद, दास-प्रथा और सामन्तवाद।

समाज की आर्थिक व्यवस्थाओं पर ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकाश डालते हुए मार्क्स ने नतीजा निकाला कि जिस प्रकार अब तक की सामाजिक व्यवस्थाओं मे परिवर्तन हुए हैं उसी प्रकार हमारी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था अर्थात् पूंजीवाद का भी बदलना अनिवार्य है। भविष्य मे पूंजीवाद का अन्त होगा और समाजवाद तथा साम्यवाद की स्थापना होगी।

समाज की प्रत्येक आर्थिक व्यवस्था की अपनी विशेषता होती है जिसके आधार पर अन्य व्यवस्थाओं के साथ उसका विभेद किया जा सकता है। आदिम साम्यवाद के काल में उत्पादन के साधनों का विकास बहुत कम हुआ था। मनुष्य मिल-जुलकर अपने सामूहिक प्रयास से किसी प्रकार अपनी जीविका निर्वाह करते थे। उनके आपसी सहयोग का आधार था उत्पादन के साधनों का पिछड़ापन। इस अवस्था में स्वाभाविक रूप से लोग अपने सामूहिक उत्पादन का इस्तेमाल सामूहिक ढंग से करते थे। उस समय तक समाज में वर्ग नहीं पैदा हुए थे।

क्रमशः पैदावार के साधनों में उन्नति हुई। अब मनुष्य के लिए यह सम्भव हो गया कि अपने श्रम के बल पर अपनी जिन्दगी बसर करने के अलावा कुछ बचत भी कर सके। यहीं से दास-प्रथा का आरम्भ होता है। अब गुलामों या दासों की मेहनत से फायदा उठाना सम्भव था। आदिम साम्यवाद के युग में दास प्रथा की कोई उपयोगिता न थी इसीलिए उस समय न तो दास होते थे और न दासों के मालिक। किन्तु आदिम साम्यवाद की तुलना में दास-प्रथा अधिक प्रगतिशील थी क्योंकि इसे उत्पादन के उन्नत साधनों ने जन्म दिया था और उस दौर में दास-प्रथा उत्पादन को बढ़ाने में मददगार भी थी।

और अधिक समय बीतने पर दास-प्रथा का स्थान सामन्तवाद ने ग्रहण कर लिया। सामन्तवाद के युग में जमीन पैदावार का मुख्य साधन थी। और सामन्त जमीन के स्वामी थे। इसके अलावा छोटे छोटे दस्तकार और कारीगर समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। उत्पादन की व्यवस्था में अब दासों का महत्व नहीं रहा था और उनकी जगह पर अर्द्धदास या भू-दास आ गये थे। यह भू-दास स्वयं खेती करते थे और सामन्तों के खेतों पर भी काम करते थे। लगान के रूप में पैदावार का एक भाग सामन्त को देकर और सामन्त के खेतों पर काम करके यह सामन्तों की दौलत को बढ़ाते थे। आखिरकार सामन्तवाद का भी खातमा लाजिमी हो गया।

सामन्तवाद के अन्तर्गत उत्पादन की शक्तियों का बढ़ना जारी रहा। यातायात के साधनों में सुधार हुआ और व्यापार में वृद्धि हुई। सामन्तवादी व्यवस्था में ही व्यापारियों का एक धनी वर्ग पैदा हुआ। कारखानों की पैदावार बढ़ाने और व्यापार के बन्धनों को दूर करने में इस वर्ग का हित था। सामन्तवाद का ढाँचा अब उत्पादन की शक्तियों के विकास में बाधक था। उत्पादन को आगे बढ़ाने के लिए आवश्यक था कि कारखानों में काम करने के लिए आज़ादी के साथ मजदूर मिल सकें और छोटे छोटे सामन्ती राज्यों की सीमाओं पर लगने वाले करों तथा वसूलयाबियों से व्यापार को

मुक्त किया जाय। इसलिए तत्कालीन व्यापारियों और कारखानेदारों ने जो आजकल के पूँजीपति वर्ग के पूर्वज कहे जा सकते हैं, सामन्तवाद के खिलाफ आवाज उठायी। इस संघर्ष में सामन्तवाद की पराजय हुई और पूँजीवाद की विजय हुई।

संक्षेप में यही हमारे ऐतिहासिक विकास का क्रम है। जब कोई सामाजिक व्यवस्था उत्पादन की शक्तियों के विकास मे बाधक होने लगती है तो उस व्यवस्था का टूटना अनिवार्य हो जाता है और उसके स्थान पर एक नयी सामाजिक व्यवस्था कायम होती है जिसमे उत्पादन करने वाले मनुष्यों के बीच नये प्रकार के सम्बन्ध कायम होते है। मार्क्स के सहयोगी एङ्गेल्स ने अपनी पुस्तक 'ऐण्टी-ड्यूरिङ्ग' में इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

"इतिहास का भौतिकवादी विचार (अवधारणा) इस प्रस्थापना से आरम्भ होता है कि उत्पादन, और उत्पादन के बाद उत्पादित वस्तुओं का विनिमय समस्त सामाजिक संरचना का आधार होता है, और अभी तक इतिहास में जितनी समाज-व्यवस्थायें देखी गयी हैं उनमे वस्तुओ के वितरण का ढंग तथा वर्गों अथवा सामाजिक श्रेणियों के बीच के विभाजन का ढग इस पर निर्भर होता है कि उस समाज मे किन चीजो का उत्पादन होता है, किस तरह होता है और उत्पादित वस्तुओं का विनियम कैसे होता है। इस दृष्टिकोण से, समस्त सामाजिक परिवर्तनों तथा राजनीतिक क्रान्तियो के मूल कारणो को हमे मनुष्यों के दिमागो मे या शाश्वत सत्य एव न्याय की मनुष्यो की बेहतर समझ में न खोज कर, उत्पादन तथा विनिमय की प्रणालियो मे होने वाले परिवर्तनों में खोजना चाहिए। इन कारणो को हमें प्रत्येक विशिष्ट युग के दर्शन शास्त्र मे नही, बल्कि उसके अर्थशास्त्र मे खोजना चाहिए। यह बढ़ती हुई समझ कि मौजूदा सामाजिक प्रथायें अबुद्धिसंगत तथा अन्याय-पूर्ण हैं और "विवेक अविवेक बन गया है तथा न्याय अन्याय में रूपान्तरित हो गया है"—यह तो केवल इस बात का प्रमाण है कि उत्पादन तथा विनिमय की प्रणालियो मे चुपचाप कुछ ऐसे परिवर्तन हो गये हैं जिनसे यह समाज

व्यवस्था जो पुरानी आर्थिक परिस्थितियों के अनुरूप है, मेल नहीं खाती। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि हमें जिन विषमताओं का पता चलता है, उनको दूर करने के साधन भी न्यूनाधिक विकसित रूप में स्वयं उत्पादन की बदली हुई परिस्थितियों में मौजूद होंगे। इन साधनों को अपने मस्तिष्क से निकाल कर उनका **आविष्कार** नहीं करना है, बल्कि मस्तिष्क की सहायता से उनको उत्पादन के वर्तमान भौतिक तथ्यों में से **खोजकर** निकालना है।

पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की विशेषता क्या है ? पूंजीवाद की विशेषता यही नहीं है कि उत्पादन के साधन कुछ मुट्ठी भर लोगों अर्थात् पूंजीपति वर्ग के हाथ में रहते हैं बल्कि उसकी विशेषता यह है कि वह वस्तु-उत्पादन का सर्वोच्च स्वरूप है। पूंजीवाद में सामाजिक उत्पादन मुख्यतः वस्तु उत्पादन के रूप में होता है।

अर्थशास्त्र की भाषा में वस्तु उस चीज को कहते हैं जो बाजार में बेचने के लिए बनायी जाती है। पूंजीवाद से पहले आर्थिक व्यवस्थाओं में "वस्तु-उत्पादन" को प्रमुख स्थान नहीं प्राप्त था। लोग अधिकांशतः अपने निजी उपयोग के लिए सामान तैयार करते थे। केवल कुछ अतिरिक्त सामान पैदा होता था जिसे बेच कर या बदल कर लोग अपनी जरूरत की अन्य चीजों का प्रबन्ध करते थे।

इसके विपरीत पूंजीवाद में पैदावार मुख्यतः अपने इस्तेमाल के लिए नहीं बल्कि बाजार में बेचने के लिए "वस्तुओं" के रूप में होती है। पूंजीवाद की व्याख्या करते हुए मार्क्स ने बताया है कि पूंजीवाद वस्तु उत्पादन का सर्वोच्च स्वरूप है। पूंजीवाद समाज की वह व्यवस्था है जिसमें मनुष्य की श्रम-शक्ति भी एक वस्तु का रूप धारण कर लेती है, अर्थात् श्रम-शक्ति भी अन्य वस्तुओं की भाँति बिकने लगती है।

तीसरा अध्याय | वस्तु, मूल्य और मुद्रा

सामाजिक उत्पादन की उस व्यवस्था को, जिसमें उत्पादन मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये होता था, प्राकृतिक अर्थ व्यवस्था (नेचुरल इकानोमी) कहते है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था इस प्राकृतिक अर्थव्यवस्था से भिन्न है। यहाँ उत्पादन का लक्ष्य आवश्यकता की पूर्ति न होकर बाजार में बिक्री करना होता है।

वस्तु उत्पादन

इतिहास में वस्तुओं का उत्पादन उसी समय शुरू हो चुका था जब कि आदिम साम्यवाद की व्यवस्था का अन्त हो रहा था। दास प्रथा और सामन्तवाद के युग में वस्तु-उत्पादन जारी रहा किन्तु इन दोनों युगों की अर्थव्यवस्था प्राकृतिक अर्थव्यवस्था थी। इस काल का वस्तु उत्पादन साधारण वस्तु-उत्पादन (सिम्पिल कमोडिटी प्रोडक्शन) कहलाता है। साधारण वस्तु उत्पादन कारीगरों और दस्तकारों की अपनी मेहनत के द्वारा होता है। वह किसी अन्य से काम लेकर उसका शोषण नहीं करते हैं। वस्तु उत्पादन के लिए दो शर्तें आवश्यक थी— समाज में श्रम का विभाजन और उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व।

पूँजीवादी व्यवस्था के तमाम सामाजिक सम्बन्धों को समझने के लिए वस्तु-उत्पादन के विभिन्न पहलुओं को जानना जरूरी है।

वस्तु के सम्बन्ध में इतना जान लेना चाहिये कि हमारे श्रम की हर एक पैदावार या उपज को वस्तु नहीं कहा जा सकता है। वस्तु के लिए

मूल्य

बाजार में वस्तुओं का विनिमय किस प्रकार होता है? यदि मैं कारीगर बाजार में अपने बनाये हुए एक जोड़ी जूते के बदले में चार गज कपड़ा लेता हूँ तो जूते और कपड़े का यह अनुपात किस आधार पर तय होता है? जाहिर है कि यह विनिमय इन वस्तुओं के आकार, या वजन या रंग आदि के आधार पर नहीं हो सकता है। क्योंकि आकार, वजन और रंग आदि में बहुत अन्तर है। इसलिए विनिमय के लिए किसी ऐसी चीज को आधार बनाया जा सकता है जो सभी वस्तुओं में सामान्य रूप से मौजूद है। विभिन्न वस्तुओं में समानता इसी दृष्टि से पायी जाती है कि उनमें श्रम लगता है। वस्तुओं में लगे हुए इसी श्रम के आधार पर उनका विनिमय मूल्य निश्चित होता है।

किसी वस्तु के बदले में अन्य कोई वस्तु कितनी मात्रा में मिलेगी यह इस पर निर्भर करता है कि दोनों वस्तुओं में लगे हुए श्रम का अनुपात क्या है। वास्तव में वस्तुओं में लगा हुआ श्रम ही उनके विनिमय मूल्य अथवा मूल्य को जन्म देता है। जिस वस्तु के उत्पादन में अधिक श्रम लगता है उसका मूल्य उन वस्तुओं की अपेक्षा अधिक होता है जिसमें कम श्रम लगा होता है।

किन्तु इतना ही कहना काफी नहीं है कि वस्तुओं का मूल्य उनमें लगे हुए श्रम के अनुसार तय होता है। यदि सिर्फ यही होता तो प्रत्येक उत्पादक अपनी पैदा की हुई वस्तु को अधिक श्रम लगाकर मँहगा बना सकता था और इस प्रकार किसी अकुशल कारीगर को अगर १० गज कपड़ा बनाने में दो दिन लगते तो उसे दो दिन की मेहनत के बदले में अन्य वस्तुयें मिल जाती और एक ही दिन में १० गज कपड़ा बनाने वाले कुशल कारीगर को सिर्फ एक दिन की मेहनत के बदले उससे कम वस्तुयें मिलती। या फिर अच्छे औजारों की सहायता से कम समय में और कम मेहनत में किसी वस्तु को बनाने वाले को कम मूल्य मिलेगा और खराब औजारों की मदद से, अधिक समय में तथा अधिक श्रम से उसी वस्तु को बनाने वाले को अधिक मूल्य प्राप्त होगा। किन्तु ऐसा नहीं होता। इसका कारण यह है कि वस्तु का मूल्य आँकते समय देखा जाता है कि उसमें कितना **सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम** लगा है। वस्तु का मूल्य इससे निर्धारित होता है कि समाज में उत्पादन की शक्तियों की अवस्था को देखते हुए उसके उत्पादन में सामान्य रूप से या औसतन कितना श्रम लगता है। इसी को सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम कहते हैं।

किसी वस्तु के उत्पादन में कितना श्रम लगा है, यह जानने के लिये देखना होगा कि उसके उत्पादन में कितने समय तक मेहनत की गयी है। अतएव हम यह भी कह सकते हैं कि वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन में लगे हुए **सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम के समय** (सोशली नेसेसरी लेबर-टाइम) द्वारा निर्धारित होता है। मार्क्स के कथनानुसार "सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम का समय वह है जिसकी आवश्यकता किसी वस्तु को उत्पादन की साधारण परिस्थितियों में और औसत दर्जे की कुशलता तथा उस समय में प्रचलित काम के घनत्व (तेजी) के साथ तैयार करने के लिए होती है।" (कैपिटल, प्रथम भाग, पृ० ३९ मास्को, १९६१ ई०)

मूर्तश्रम तथा अमूर्तश्रम

हम पहले देख चुके हैं कि किसी वस्तु में दो प्रकार के गुण होते हैं।

एक तो वह मनुष्य की किसी आवश्यकता की पूर्ति करती है, इसी को वस्
की उपयोगिता अथवा उपयोगिता-मूल्य कहते हैं। दूसरे प्रत्येक वस्तु
अन्य किसी वस्तु के साथ विनिमय हो सकता है या उसे बाजार में बेचा ज
सकता है, इसे हम वस्तु का विनिमय-मूल्य कहते हैं। वस्तु के इन्हीं दो
स्वरूपों के अनुसार श्रम के भी दो स्वरूप होते हैं।

वस्तुओं के उत्पादन पर गौर करने से मालूम होगा विभिन्न प्रकार व
वस्तुओं के उत्पादन के लिए अलग-अलग तरह के औजारों और खास तर
के कारीगरों तथा कार्यकुशलता की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लि
कपड़ा बनाने के लिए एक खास किस्म के औजार और कारीगर चाहिए
और कपड़ा बनाने वाले कारीगर अपने शरीर से एक विशेष ढंग से काम
लेते हैं। इसके विपरीत लकड़ी की अलमारी बनाने के लिए अन्य प्रकार के
कारीगर चाहिए। उनके औजार और काम के तरीके भिन्न प्रकार के होते
हैं। इस तरह विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के लिए विभिन्न प्रकार के श्रम की
आवश्यकता है। बुनकर का श्रम अलग किस्म का है और उससे कपड़े को
उपयोगिता प्राप्त होती है। बढ़ई का श्रम एक अन्य प्रकार का होता है
जिससे अलमारी बनती है। श्रम की यह विभिन्नता ही वस्तुओं को विभिन्न
प्रकार का उपयोगी-मूल्य प्रदान करती है। वस्तुओं की उपयोगिता पैदा
करने वाला विभिन्न प्रकार का श्रम अर्थशास्त्र की भाषा में मूर्तश्रम
(कांक्रीट लेबर) कहलाता है।

मनुष्य हर किस्म की वस्तुओं के उत्पादन के लिए एक खास ढंग से
अपनी श्रम-शक्ति का व्यय करते हैं अर्थात् प्रत्येक वस्तु में लगा हुआ मूर्तश्रम
अलग तरह का होता है। किन्तु सभी प्रकार के मूर्तश्रम में एक बात समान
रूप से पायी जाती है और वह यह है कि हर तरह का श्रम मनुष्य की
श्रम-शक्ति का व्यय है। जब हम श्रम को केवल मनुष्य की श्रम-शक्ति के
व्यय के रूप में, उसके मूर्त स्वरूप से अलग करके देखते हैं तो उसे अमूर्त-श्रम
(एब्स्ट्रैक्ट लेबर) कहते हैं। अमूर्त-श्रम से ही वस्तुओं का विनिमय-मूल्य

त्पन्न होता है। विनिमय में देखा जाता है कि प्रत्येक वस्तु में कितना अमूर्त-श्रम लगा है।

दो प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन में लगे हुए मूर्त-श्रम में गुणात्मक रूप में अन्तर होता है, जैसे कि बुनकर और बढ़ई के श्रम में। लेकिन जब हम दो प्रकार की वस्तुओं में लगे हुए श्रम को अमूर्त-श्रम के रूप में देखते हैं तो यह गुणात्मक अन्तर नहीं मिलता है बल्कि केवल परिमाणात्मक अन्तर दिखाई देता है।

जब बाजार में उत्पादक विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का आदान-प्रदान करते हैं तो वे आपस में विभिन्न प्रकार के मूर्त-श्रम का विनिमय करते हैं। वस्तुओं का यह विनिमय परस्पर मूल्य के विनिमय के रूप में प्रकट होता है। इसके पीछे समाज का श्रम-विभाजन छिपा रहता है। वस्तुओं का विनिमय अन्ततोगत्वा मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों को प्रकट करता है।

मूल्य के स्वरूप

आज हम बाजार में रुपया लेकर अपनी वस्तुओं को बेचते हैं और रुपया देकर अन्य वस्तुएँ खरीदते हैं। किन्तु समाज में विनिमय की व्यवस्था का हमेशा यही स्वरूप नहीं था। एक समय था जब कि रुपया या अन्य किसी मुद्रा का आविष्कार नहीं हुआ था। लोग आपस में अपनी वस्तुओं का ही विनिमय करते थे।

विनिमय पर विचार करते समय सबसे पहले यह जान लेना चाहिए कि विनिमय एक ही प्रकार की वस्तुओं का नहीं होता है बल्कि भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं के बीच में होता है। मिसाल के तौर पर गेहूँ और खद्दर के बीच में विनिमय होगा। गेहूँ देकर उसके बदले गेहूँ नहीं लिया जाता है। विनियम में एक वस्तु की निश्चित मात्रा के बदले में दूसरी वस्तु निश्चित परिमाण में प्राप्त होती है अर्थात् एक वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तु के द्वारा बताया जाता है जैसे कि एक किलोग्राम गेहूँ = एक मीटर खद्दर। जिस वस्तु का मूल्य प्रकट किया जाता है वह सापेक्ष रूप से मूल्य रखती है

और जिस वस्तु के द्वारा मूल्य प्रकट किया जाता है उसमें **पर्यायवाची रूप से मूल्य** रहता है। हमारे इस उदाहरण में १ किलोग्राम गेहूँ में सापेक्ष रूप से मूल्य (रिलेटिव फार्म आफ वैल्यू) है और १ मीटर खद्दर में पर्यायवाची रूप से मूल्य (इकुइवेलेन्ट फार्म आफ वैल्यू) है।

प्राकृतिक अर्थ व्यवस्था में लोग मुख्यतः अपनी निजी आवश्यकता के लिए वस्तुओं का उत्पादन करते थे। विनिमय के लिए कभी कभी कोई वस्तु संयोग से बच जाती थी और उसके द्वारा उत्पादक अन्य कोई वस्तु प्राप्त कर लेते थे। यह विनिमय का प्रारम्भिक काल था। इस काल में विनिमय की वस्तुओं में लगे हुए श्रम को पूरी तरह नहीं नापा जाता है। विनिमय अधिकतर संयोग पर निर्भर करता था। अतः विनिमय में वस्तुओं का **प्रारम्भिक मूल्य** अथवा **संयोग जन्य मूल्य**, या एक मात्र मूल्य प्राप्त होता था।

क्रमशः समाज का विकास हुआ। पशुपालन के साथ साथ खेती का विकास हुआ। पशु पालन करने वाली और खेती करने वाली जातियों के बीच वस्तुओं का विनिमय आरम्भ हुआ। विनिमय के दौर में लोगों को मालम हुआ कि अनेक वस्तुओं के बीच में लोग एक किसी वस्तु को लेना अधिक पसन्द करते हैं और उसके बदले में अनेक प्रकार की वस्तुयें मिल सकती है। ऐतिहासिक विकास के इस दौर में पशुओं का अधिक महत्व था। इसलिए जिस प्रकार आजकल मुद्रा देकर हम अनेक प्रकार की वस्तुयें खरीद सकते हैं उसी तरह उस युग में पशुओं के बदले अनेक प्रकार की वस्तुयें प्राप्त की जा सकती थी। सबसे पहले पशुओं से ही मुद्रा का कार्य लिया गया।

जब किसी एक वस्तु का मूल्य अनेक प्रकार की वस्तुओं के द्वारा प्रकट किया जाता है तो उसे उस वस्तु के मूल्य का **विस्तारित** (एक्सपैंडेड) अथवा **पूर्ण स्वरूप** (टोटल फार्म आफ वैल्यू) कहते हैं। उदाहरण के रूप में:—

१ भेंड़ { = २० मीटर कपड़ा
= १५ किलोग्राम अनाज
= १ ग्राम सोना

यहाँ भेड़ का विस्तारित मूल्य उपर्युक्त वस्तुओं से प्रकट होता है।

इसके विपरीत जब कई वस्तुओं का मूल्य एक ही वस्तु में प्रकट होता है तो उसे मूल्य का सार्वभौमिक स्वरूप (यूनिवर्सल फार्म आफ वैल्यू) कहते हैं, जैसे कि —

२० मीटर कपड़ा =
१५ किलो ग्राम अनाज =
१ ग्राम सोना =
} =१ भेड़

मूल्य के सार्वभौमिक स्वरूप की खोज से वस्तुओं के संचार (सरकुलेशन) का प्रचलन हुआ। प्रारम्भ में ही सभी वस्तुओं के मूल्य का सार्वभौमिक रूप से व्यक्त करने वाली किसी एक ही चीज का आविष्कार नहीं हो गया था। समाज की प्रारम्भिक अवस्था में कई वस्तुओं के द्वारा अन्य सभी वस्तुओं का मूल्य व्यक्त होता था। धीरे धीरे हम उस मंजिल पर आ गये जब कि सभी वस्तुओं के मूल्य को व्यक्त करने के लिए सोना या चाँदी जैसी किसी एक वस्तु का प्रयोग होने लगा अर्थात् मुद्रा प्रणाली ने जन्म लिया।

जब सोने जैसी किसी एक ही वस्तु के द्वारा अन्य सभी वस्तुओं का मूल्य व्यक्त होता है तो हम उसे मुद्रा के रूप में मूल्य (मनी फार्म आफ वैल्यू) कहते हैं। मुद्रा उस वस्तु को कहते हैं जो अन्य सभी वस्तुओं के मूल्य को व्यक्त करने के सामाजिक कार्य को पूरा करती है। मुद्रा का प्रचलन उस युग में आरम्भ होता है जब कि समाज में श्रम का दूसरी बार बँटवारा हो चुका था और खेती और दस्तकारी अलग अलग हो गये थे।

मुद्रा

मुद्रा का प्रचलन आज जिस रूप में दिखाई देता है वह ऐतिहासिक विकास का नतीजा है। सबसे पहले उस वस्तु ने मुद्रा का काम किया जिसकी सबसे अधिक माँग थी। अन्त में स्वर्ण की मुद्राओं का प्रचलन हुआ और आज कल मुद्रा के रूप में स्वर्ण को कागज के नोटों ने स्थानान्तरित कर दिया है।

मुद्रा, चाहे उसका रूप सोने का हो या कागज का, बुनियादी तौर पर वस्तुओं के मूल्य को नापने का काम करती है। जिस प्रकार किसी वस्तु का वजन जानने के लिए सेर या किलोग्राम काम में लाया जाता है और लम्बाई जानने के लिए मीटर या गज का इस्तेमाल करते हैं इसी तरह मूल्य जानने के लिए मुद्रा का (रुपया, पौण्ड या डालर आदि का) प्रयोग किया जाता है। किसी मुद्रा के निश्चित भाग भी होते हैं जैसे कि एक रुपये में सौ पैसे। मुद्रा के इन अंशों का भी प्रयोग मूल्य प्रकट करने के लिए ही होता है।

जब किसी वस्तु का मूल्य मुद्रा में व्यक्त किया जाता है तो उसे दाम कहते हैं। मूल्य का नगदी स्वरूप ही दाम है। इसलिए मुद्रा दाम का मापदण्ड है।

मुद्रा वस्तुओं के संचार का माध्यम होती है। हम बाजार में रुपया देकर कोई चीज खरीदते हैं। हमसे रुपया लेकर व्यापारी अपनी आवश्यकता की कोई वस्तु खरीदता है। इस तरह मुद्रा एक हाथ से दूसरे हाथ में जाती रहती है और उसके बदले में वस्तुओं का हस्तान्तरण होता रहता है। कोई वस्तु जब विक्रेता के हाथ से खरीददार के हाथ में पहुंच जाती है तो उसका संचार (सर्कूलेशन) समाप्त हो जाता है। किन्तु मुद्रा का संचार इस तरह समाप्त नहीं हो जाता। वह वस्तुओं के संचार के माध्यम के रूप में बनी रहती है। मुद्रा की यही मौलिक उपयोगिता है।

चूंकि मुद्रा वस्तुओं के संचार का माध्यम है और मुद्रा के द्वारा अन्य वस्तुयें प्राप्त की जा सकती हैं इसी लिए लोग मुद्रा का संग्रह या जखीरेबाजी भी करते हैं। मुद्रा के संग्रह का अर्थ है अप्रत्यक्ष रूप से वस्तुओं का संग्रह करना यह मुद्रा का दूसरा उपयोग है।

व्यापार और वस्तुओं के संचार में उन्नति के साथ कागज की मुद्रा का भी स्थान बहुत कुछ **उधार मुद्रा** (क्रेडिट मनी) ने ले लिया है। अब बड़े बड़े व्यापारिक सौदे आम तौर से बैंकों के नोटों या चेकों अथवा हुण्डी (बिल आफ एक्सचेंज) के द्वारा होते हैं। हजारों मील दूर के दो

ों के बीच का व्यापार, हुण्डियों के द्वारा हो जाता है। सामान खरीदने के बाद में रुपया या मुद्रा में आने की आवश्यकता नहीं होती है।

एक ज़माना था जब कि व्यापारी वस्तुओं के मूल्य का भुगतान निश्चित वजन के सोने या चाँदी के टुकड़ों में किया करते थे। फिर इन टुकड़ों के स्थान पर मुद्रा आयी जिसे राज्य की ओर से मान्यता प्राप्त होती है। मुद्रा का वजन प्रारम्भ में चाहे जो भी हो किन्तु बाद में घिस जाने पर भी वह निश्चित मूल्य के बराबर मानी जाती है। फिर कागज की मुद्रा ने धातुओं की मुद्रा की जगह ले ली और लोगों का यह भ्रम दूर हो गया कि वस्तुओं का मूल्य सोने या चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुओं के द्वारा ही मापा जा सकता है। अब सभी देशों में कागज के नोटों का ही प्रचलन है और बहुत बड़े पैमाने पर इन नोटों की जगह उधार-मुद्रा (बैंकों के चेक, हुण्डी आदि) से ही सौदे तय हो जाते हैं। पूँजीवाद के युग में आते आते मुद्रा ने यह नये स्वरूप ग्रहण किये हैं। उधार-मुद्रा ने सोने, चाँदी की मुद्रा तथा कागज की मुद्रा की आवश्यकता को काफ़ी कम कर दिया है।

किसी देश में वस्तुओं के संचार के लिए कितनी मुद्राओं की आवश्यकता है यह इस पर निर्भर करता है कि वहाँ कितने नगदी मूल्य की वस्तुएं पैदा होती हैं और मुद्रा का चक्कर कितने समय में पूरा होता है। पूरी वस्तुओं के दाम को मुद्रा के चक्करों से भाग देने से मालूम हो जायगा कि सभी वस्तुओं के संचार के लिए कितनी मुद्रा की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए अगर किसी देश में प्रति वर्ष १० करोड़ रुपये के मूल्य की वस्तुयें पैदा होती हैं और हर रुपया साल में दस चक्कर पूरे करता है तो उस देश की वस्तुओं के संचार के लिए १ करोड़ रुपयों (मुद्रा) की आवश्यकता होगी। कुल वस्तुओं के दाम को मुद्रा के चक्करों से भाग देकर आवश्यक मुद्रा की संख्या का पता लगाया जा सकता है। कागज की मुद्रा भी सोने की मुद्रा का प्रतिनिधित्व करती है। इस दृष्टि से कागज की मुद्राओं की संख्या भी वही होगी।

अगर किसी देश की सरकार इस नियम का उल्लंघन करके आव-
श्यकता से अधिक मात्रा में कागज की मुद्रा जारी कर दे तो इसके फलस्व-
रूप मुद्रा के मूल्य में गिरावट आ जायगी । उतनी ही वस्तुओं के लिए अधि-
क संख्या में मुद्रा देनी होगी । इसी तरह मुद्रा प्रसार से मंहगाई आ जाती
और निश्चित मुद्रा आय वाले लोगों (मजदूरों, नौकरपेशा लोगों आदि)
को इससे हानि होती है।

इस नियम को दृष्टिगत रखते हुए कहा जा सकता है कि मुद्रा के
संचार की गति बढ़ने पर अथवा उसके चक्करों की तेजी के बढ़ने पर अपेक्षा-
कृत कम मुद्राओं के द्वारा वस्तुओं का संचार हो जाता है। इसके विपरीत
मुद्रा के संचार की गति कम होने पर या उसका चक्कर (टर्नओवर) धीमा
होने पर अधिक मात्रा में मुद्रा की आवश्यकता होती है। आवश्यक मुद्रा का
परिमाण इस तरह होता है :—

$$\frac{\text{कुल वस्तुओं का दाम}}{\text{मुद्रा के चक्कर}} = \text{आवश्यक मुद्रा}$$

मूल्य का नियम

पहले बताया जा चुका है कि वस्तुओं का मूल्य उनमें लगे हुए साम-
जिक रूप से आवश्यक श्रम के आधार पर निश्चित होता है। एक ऐसे समा
में जिसमें उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व स्थापित है, यह निय
एक खास ढंग से काम करता है।

व्यवहारिक जीवन में दिखाई देता है कि बाजार में जिस वस्तु
माँग अधिक होती है और पूर्ति कम होती है उसके दाम बढ़ जाते हैं औ
इसके विपरीत अगर किसी वस्तु की पूर्ति अधिक हुई और माँग कम हुई
उसके दाम घट जाते हैं। ऊपरी तौर पर ऐसा मालूम होता कि वस्तुओं
माँग और पूर्ति के द्वारा ही वस्तुओं का मूल्य निर्धारित होता है और मु
के आधार स्वरूप सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम का नियम गलत है।

इसी तरह यह भी दिखाई देता है कि जब किसी वस्तु को बेचने के
ए व्यापारियो मे प्रतियोगिता होती है तो उस वस्तु के दाम गिर जाते
। प्रतियोगिता के अभाव में वस्तुओ के दाम बढ भी जाते हैं। अतएव
ा प्रतीत होता है कि वस्तुओं का मूल्य उनकी माँग और पूर्ति के सम्बन्धों
ा प्रतियोगिता के द्वारा ही निर्धारित होता है।

इसमें कोई सन्देह नही कि माँग और पूर्ति की स्थिति तथा प्रति-
गिता का असर मूल्यों पर काफी पडता है। अगर बाजार में किसी वस्तु
माँग बढ जाती है और उसके दाम बढ जाते हैं तो अधिक से अधिक लोग
। वस्तु का उत्पादन करने लगते हैं। नतीजा यह होता है कि उस वस्तु
पूर्ति बढ जाती है और उसे बेचने के लिए व्यापारियो में प्रतियोगिता
े लगती है जिससे दामो में गिरावट आ जाती है। दाम कम होते ही
ग इस वस्तु के उत्पादन में कमी करने लगते हैं। इस प्रकार प्रतियोगिता
द्वारा माँग और पूर्ति के बीच उचित सतुलन कायम हो जाता है और
य ही साथ दाम भी उचित स्तर पर आ जाते हैं।

पूँजीवादी समाज मे, जहाँ उत्पादन के साधनो पर व्यक्तिगत स्वामित्व
ता है, मूल्य का नियम इसी तरह स्वत स्फूर्त ढग से प्रतियोगिता के रूप
काम मे आता है। किन्तु पूँजीवादी समाज मे दामो के उतार-चढाव और
तियोगिता की उथल-पुथल तथा अराजकता के बीच भी मूल्य के नियम का
इत्व कम नही होता है। प्रतियोगिता इस समाज का एक खास गुण है
न्तु प्रतियोगिता के बढने का अर्थ यह नही कि उत्पादक अपनी वस्तुओ
। मुफ्त मे बाँटने लगेंगे। वस्तुओं के दामों मे एक समय तक के लिए उथल-
थल होती है किन्तु आम तौर से दामों की एक सामान्य सीमा रहती है।
त सीमा का क्या आधार होता है ? इस सीमा को मूल्य के इसी नियम के
ारा समझा जा सकता है कि वस्तुओ मे लगा हुआ सामाजिक रूप मे
ावश्यक श्रम ही उनके मूल्य को मौलिक रूप से निर्धारित करता है।

मूल्य के नियम के सम्बन्ध मे जान लेना चाहिए कि यह नियम वस्तु

उत्पादन का एक आर्थिक नियम है और इसके अन्तर्गत वस्तुओं का वि[illegible] उनमें लगे हुए सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम के अनुसार होता है। प्र[illegible]योगिता की अराजकता के बावजूद वस्तुओं के औसत दाम उनके मूल्य के इर्द गिर्द घूमते रहते हैं।

मूल्य के नियम का महत्व कई प्रकार से दृष्टिगोचर होता है। [illegible] नियम वस्तुओं के उत्पादन को नियंत्रण में रखता है। इसी नियम के का[illegible] विभिन्न उद्योगों के उत्पादन का भी सन्तुलन कायम होता है। यदि मूल्य [illegible] नियम लागू न हो तो किन्हीं उद्योगों में पूंजी का अभाव हो जाय और [illegible] अन्य उद्योगों में लोग आवश्यकता से अधिक पूंजी लगा दें।

इसके अलावा मूल्य के नियम का एक सबसे बड़ा असर यह पड़ता है कि उत्पादक मूल्य घटाने के लिए अर्थात् वस्तुओं में लगा हुआ सामाजि[illegible] रूप से आवश्यक श्रम कम करने के लिए नयी नयंत्रों (मशीनों) से तथा उन्नत प्राविधिक (तकनीकी) प्रणाली से काम लेने के लिए बाध्य होते हैं। इस प्रकार अच्छी मशीनों तथा काम के बेहतर तरीकों के जरिए प्रतियोगित[illegible] में प्रतिद्वन्दियों को पछाड़ने में मदद मिलती है। पूंजीवादी व्यवस्था में मूल्य का नियम इसी तरह स्वतःस्फूर्त ढंग से काम करता है।

वस्तु का चमत्कार या दैवी स्वरूप

पूंजीवादी समाज में उत्पादकों का परस्पर सम्बन्ध वस्तुओं के द्वारा ही कायम होता है। बाजार में वह एक दूसरे के सामने नहीं आते हैं बल्कि उनकी वस्तुयें ही एक दूसरे के सामने आती हैं।

यह भी देखा जाता है वस्तुयें जब तैयार होकर उत्पादकों के हाथ से बाजार में आ जाती हैं तो उन पर उत्पादकों का नियंत्रण नहीं रह जाता है। आज अगर किसी वस्तु के बदले में उत्पादक को दस रुपये मिलते हैं तो सम्भव है कि कल उसे उसी वस्तु के लिए केवल पाँच रुपये मिलें। ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तु के मूल्य से उत्पादक और उसके श्रम का कोई वास्ता

ही है और वस्तु का अपना पृथक अस्तित्व है तथा उसका मूल्य अपने आप से निर्धारित होता है। वस्तु पर उत्पादक का नियंत्रण नहीं होता है बल्कि उत्पादक पर वस्तु का नियंत्रण होता है। मार्क्स ने इसी का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इस प्रकार वस्तु एक "दैवी-स्वरूप" धारण कर लेती है और यह वस्तु का चमत्कार (कमोडिटी फेटिशिज्म) है।

वस्तु के दैवी स्वरूप की भाँति मुद्रा का भी "दैवी स्वरूप" दिखाई देता है। वास्तव में मुद्रा केवल वस्तुओं के मूल्य को नापने का एक साधन है और उसके विनिमय का माध्यम है। किन्तु ऊपरी तौर पर देखने से मालूम होता है कि मुद्रा का स्वामी सभी वस्तुओं को खरीद सकता है, इसलिए वस्तुओं पर मुद्रा का अधिकार कायम है और मुद्रा वस्तुओं के मूल्य की अभिव्यक्ति का साधन नहीं है बल्कि वस्तुयें ही मुद्रा के प्रभुत्व को व्यक्त करती हैं। यह मुद्रा का चमत्कार है।

मार्क्स ने वस्तुओं के इस "दैवी-स्वरूप" का पर्दाफाश किया और बताया कि यह पूँजीवादी व्यवस्था के कारण दिखाई देता है जिसमें उत्पादन पर व्यक्तिगत स्वामित्व है। समाजवाद में सामूहिक स्वामित्व आने पर वस्तुओं का यह दैवी स्वरूप गायब हो जायगा।

चौथा अध्याय | पूंजी, अतिरिक्त मूल्य और मजदूरी

पहले की सामाजिक व्यवस्थाओं की तुलना में पूंजीवाद की एक विशेषता यह है कि उन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से दिखाई देता था कि कुछ लोग अन्य लोगों का शोषण करके किस ढंग से सम्पत्तिशाली हो जाते हैं लेकिन पूंजीवाद में यह नहीं दिखाई देता है कि पूंजीपति की सम्पत्ति कैसे बढ़ती है। समाज के एक छोटे से हिस्से की समृद्धि के कारणों के बारे में तरह तरह की धारणायें प्रचलित हैं। कहीं इसे दैवी कृपा का सहारा लेकर समझाया जाता है तो कहीं उसे कुछ लोगों की मेहनत और सद्गुणों का परिणाम बताया जाता है। पूंजीवादी अर्थशास्त्री भी यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि पूंजीपतियों का धन व्यापार के द्वारा अथवा वस्तुओं के विनिमय के द्वारा बढ़ता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है वस्तुओं का उत्पादन प्राकृतिक अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत भी होता था। वह साधारण वस्तु उत्पादन था जिसमें विनिमय के लिए बहुत कम वस्तुयें तैयार की जाती थीं। उस समय लोग अपनी वस्तु को बेच कर अपनी आवश्यकता के लिए अन्य वस्तुयें प्राप्त करते थे। संक्षेप में वस्तुओं का संचार इस प्रकार होता था :—

वस्तु—मुद्रा—वस्तु

अर्थात् वस्तु देकर मुद्रा प्राप्त की और मुद्रा से पुनः वस्तु प्राप्त की। लेकिन पूंजीवादी समाज में वस्तुओं का उत्पादन मुख्यतः बिक्री के लिए होता

। यहाँ वस्तुओं का संचार एक नये ढंग से होता है। उत्पादन के स्वामी
ा के स्वामी होते हैं। वह मुद्रा देकर मशीन, कच्चा माल आदि खरीदते
और मजदूरों से काम लेते हैं, फिर जो माल तैयार होता है उसे बाजार
बेचकर और अधिक मुद्रा (पैसा) हासिल करते हैं। इस तरह पूंजीवादी
माज में वस्तुओं के संचार की प्रक्रिया मुद्रा से आरम्भ होती है और उसका
न्त भी मुद्रा में होता है:—मुद्रा—वस्तु—मुद्रा।

अब प्रश्न यह है कि वस्तुओं के इस सचार की प्रक्रिया में पूंजीपतियों
ा पैसा किस तरह बढ़ जाता है? यह नहीं कहा जा सकता कि हर पूंजी-
ति अपनी वस्तु के अधिक दाम वसूल करता है इसीलिए उसकी सम्पत्ति
ढ़ जाती है। यदि यह मान लिया जाय कि प्रत्येक पूंजीपति अपनी वस्तु के
म १० प्रतिशत अधिक लेता है तो यह भी मानना पड़ेगा कि हर पूंजीपति
ो विक्रेता की हैसियत में तो १० प्रतिशत दाम अधिक मिलते हैं लेकिन
रीददार के रूप में उसे १० प्रतिशत में अधिक देने पड़ते हैं। इस तरह ले-
कर हिसाब बराबर हो जाता है। इस तरह पूंजीवाद का विकास नहीं
ो सकता।

पूंजीवादी व्यवस्था में वस्तुओं का सचार मुद्रा—वस्तु—मुद्रा के रूप
ं होता है। पूंजीपति मुद्रा का स्वामी होता है और मुद्रा के बल पर वह
स्तुओं का स्वामी बनता है तथा इन वस्तुओं को बेचकर वह पहले से
धिक मुद्रा प्राप्त कर लेता है। अतएव यह कहना अधिक सही होगा पूंजी-
ाद में सचार का नियम है मुद्रा—वस्तु—मुद्रा, अर्थात् अन्त में जब मुद्रा
ापस आती है तो उसमें मौलिक मुद्रा का एक भाग जुड़ जाता है। यह
भी हो सकता है जब कि पूंजीपति को बाजार में कोई ऐसी वस्तु खरीदने
ो मिल जाय जिसका मूल्य उसे कम देना पड़े तथा जो अपने मूल्य से
धिक मूल्य पैदा कर सके।

पूंजीपति को बाजार में इस तरह की एक वस्तु मिलती है जिसका
अपना मूल्य कम होता है किन्तु जिसके द्वारा अधिक मूल्य का उत्पादन होता

भी जरूरी है कि वह किसी तरह अपनी गृहस्थी का पालन कर सके। इस लिए मजदूर का पारिश्रमिक या मजदूरी तय करने में देखा जाता है कि उसे सामान्य रूप से जीवित रहने के लिए कितने साधनों की आवश्यकता है और उन साधनों का मूल्य क्या होता है। देश और काल के अनुसार जीवन के सामान्य स्तर में अन्तर होता है और इसके अनुसार मजदूरी की दरों में भी अन्तर होता है, परन्तु इस मौलिक सिद्धान्त की व्यवहारिकता वनी रहती है। मजदूरी और काम की शर्तें तय करते समय पूंजीपति देखता है कि सामान्य रूप से एक व्यक्ति कितने समय तक काम करके अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा और इसके वाद कितने समय तक काम करके अतिरिक्त मूल्य की वस्तुयें वनायेगा।

अन्य वस्तुओं की भाँति श्रम-शक्ति के भी दो गुण होते हैं—उसका उपयोगी मूल्य और विनिमय मूल्य। पूंजीपति के लिए यह श्रम-शक्ति अन्य वस्तुओं का उत्पादन करने में उपयोगी होती हैं और मजदूरी देते समय पूंजीपति देखता है कि इस वस्तु (श्रम-शक्ति) के उत्पादन में कितना श्रम लगता है अर्थात् कितने मूल्य की वस्तुओं की आवश्यकता होती है।

इस तरह मजदूर का कार्य-दिवस दो भागों में वँट जाता है। एक भाग वह है जो उसकी मजदूरी के लिए आवश्यक मूल्य की वस्तुओं के उत्पादन में लगता है और दूसरा भाग वह है जिसमें अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन होता है। मान लीजिए कि एक मजदूर को प्रतिदिन एक रुपया मजदूरी मिलती है और वह प्रतिदिन १२ घण्टे काम करता है। इन वारह घण्टों में ६ घंटे के काम में वह जितनी वस्तुयें वनाता है उनसे मालिक को एक रुपया मिलता है जिसे वह मजदूर को दे देता है और उसके वाद के ६ घण्टों में जो एक रुपया का मूल्य वचता है उसे अपने पास रख लेता है। इस हालत में मजदूर के काम के दिन के ६ घण्टों के काम को आवश्यक श्रम (नेसिसरी-लेवर) कहा जायगा क्योंकि मजदूर के जीवन के लिए यह श्रम आवश्यक है। शेष ६ घण्टों का श्रम अतिरिक्त-श्रम (सरप्लस लेवर) हुआ। दूसरे शब्दों में,

उसके कुल श्रम के ६ घण्टे आवश्यक श्रम-काल (नेसिसरी-लेबर-टाइम) है और अन्य ६ घण्टे अतिरिक्त श्रम-काल (सरप्लस लेबर टाइम) है।

पूरे कार्य-काल में अतिरिक्त श्रम-काल और आवश्यक श्रम काल का अनुपात मालूम किया जा सकता है किन्तु इन दोनों को बिलकुल अलग-अलग नहीं किया जा सकता है। उपर्युक्त उदाहरण में यह नहीं कहा जा सकता है कि कौन से ६ घण्टे अतिरिक्त श्रम-काल के हैं और कौन से ६ घण्टे आवश्यक श्रम-काल के हैं। वास्तव में मजदूर के कार्य-काल का प्रत्येक क्षण आवश्यक श्रम-काल और अतिरिक्त श्रम काल में बँटा रहता है। मजदूर को पूरे वक्त काम करना पड़ता है और जब वह काम करता है तो अपनी जीविका के साथ साथ मालिक के लिए अतिरिक्त मूल्य भी पैदा करता है।

पूँजीपति का मुनाफा मजदूर के अतिरिक्त श्रम से पैदा होता है, वह मजदूर के श्रम से पैदा किया गया अतिरिक्त मूल्य है। पूँजीवादी व्यवस्था का मजदूर ऊपरी तौर से आज़ाद होता है। वह दासों तथा भू-दासों की भाँति प्रत्यक्ष बन्धनों से नहीं जकड़ा होता है। फिर भी भूख के अदृश्य बन्धनों से यह मजदूर बँधा हुआ होता है और अपनी श्रम शक्ति बेच कर अपने लिए जीविका प्राप्त करता है तथा पूँजीपति को मुनाफा देता है।

पूँजी क्या है ?

जब पूँजीवाद के अन्त की बात की जाती है तो पूँजीपति वर्ग बड़े जोरों से शोर मचाता है कि कम्युनिस्ट लोगों का धन छीनना चाहते हैं और उत्पादन के साधनों को जब्त करना चाहते हैं। इस प्रचार के कारण बहुत से लोग समझने लगते हैं कि पूँजी का तात्पर्य केवल मुद्रा से है अथवा उत्पादन के साधनों से है। इस तरह पूँजीवादी शोषण और पूँजी का वास्तविक स्वरूप दृष्टि से ओझल हो जाता है।

यह सच है कि मुद्रा पूँजी का प्रारम्भिक स्वरूप है और पूँजीवादी समाज में व्यापार का प्रारम्भ मुद्रा से होता है किन्तु मुद्रा अपने आप ही पूँजी का

का रूप कायम रहता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। इसके विपरीत परिवर्तनशील पूंजी के द्वारा मजदूर की श्रमशक्ति से काम लेकर और अधिक मूल्य की वस्तुएं तैयार की जाती हैं और अतिरिक्त मूल्य पैदा किया जाता है।

पूंजी के इन दोनों स्वरूपों को खोलकर मार्क्स ने पूंजीवादी शोषण को भी स्पष्ट कर दिया। मार्क्स ने बताया कि मजदूरों के शोषण की रफ्तार या उसकी दर को जानने के लिए देखना चाहिए कि किसी उद्योग में लगी हुई परिवर्तनशील पूंजी कितनी है और उसके द्वारा कितना अतिरिक्त मूल्य प्राप्त किया जाता है। अतिरिक्त मूल्य को परिवर्तनशील पूंजी से भाग दें और उसे १०० से गुणा करने से अतिरिक्त मूल्य दर या शोषण की दर मालूम हो जाती है। उदाहरण के लिए यदि किसी उद्योग में मजदूरों को १० हजार रुपये वेतन देकर उनसे ५ हजार रुपये अतिरिक्त मूल्य के रूप में मिलते हैं तो कहा जायगा कि इस उद्योग में अतिरिक्त मूल्य की दर

$$\frac{\text{५,००० × १००}}{\text{१००००}} = \text{५० प्रतिशत है।}$$

$$\frac{\text{अ॰ मू॰}}{\text{प॰ पू॰}} \times \text{१०० = अतिरिक्त मूल्य की दर।}$$

किसी वस्तु के उत्पादन से कितना अतिरिक्त मूल्य प्राप्त हुआ, यह जानने के लिए पहले उसके कुल दामों में से लगी हुई सतत और परिवर्तनशील पूंजी को घटाना होगा। जैसे कि किसी कारखाने में १ लाख रुपये की वस्तुओं का उत्पादन हुआ और उसमें निम्नलिखित खर्चे हुए :

रुई	—	४५ हजार रुपये
मशीन की घिसाई	—	३ हजार रुपये
मकान किराया	—	७ हजार रुपये
मजदूरी	—	३० हजार रुपये
कुल जोड़	—	८५ हजार रुपये

इस कारखाने का कुल अतिरिक्त मूल्य=१ लाख—८५ हजार रुपये=१५ हजार रुपये। चूंकि परिवर्तनशील पूंजी ३० हजार रुपये है

$$\text{इसलिए अतिरिक्त मूल्य की दर} = \frac{१५०००}{३००००} \times १०० = ५० \text{ प्रतिशत}$$

पूंजीवादी अर्थशास्त्री अतिरिक्त मूल्य की दर को छिपाने की बड़ी कोशिश करते हैं क्योंकि इससे पूंजीपतियों की लूट का नग्न रूप प्रकट हो जाता है। इसलिए पूंजीवादी अर्थशास्त्र में पूंजी के रूपों का उल्लेख उनके काम के आधार पर नहीं किया जाता है।

स्थिर पूंजी और चलनशील पूंजी

पूंजीवादी अर्थशास्त्र में दो प्रकार की पूंजी का उल्लेख किया जाता है। यह विभाजन पूंजीपतियों के बही खाते को ध्यान में रख कर किया जाता है और इसमें देखा जाता है कि व्यापार की दृष्टि से कौन सी पूंजी की क्या स्थिति है। पूंजी की इन दो श्रेणियों के नाम हैं :—(१) स्थिर पूंजी और (२) चलनशील पूंजी।

स्थिर पूंजी उसे कहते हैं जो मशीनों, कारखाने की जमीन और अन्य साज-सामान में लगायी जाती है। यह पूंजी उन उत्पादन के साधनों में लगायी जाती है जिनका पूरा मूल्य किसी वस्तु के मूल्य में शामिल नहीं होता है। मशीनों के द्वारा पूंजीपति दस-बीस साल तक काम लेता है। इसलिए इस अरसे में उनसे जो वस्तुयें बनायी जाती हैं उनके मूल्य के द्वारा धीरे-धीरे पूंजीपति मशीन के दाम वसूल करता है। पूरी मशीन या फैक्टरी की इमारत के दाम किसी एक वस्तु या एक ही वर्ष के उत्पादन में नहीं जोड़ लिए जाते हैं। यह दाम क्रमशः ५ प्रतिशत या ६ प्रतिशत या कुछ कम-बेश हर वर्ष वसूल किये जाते हैं। इसी लिए पूंजीपति इस पूंजी को स्थिर पूंजी कहता है।

चलनशील पूंजी उस पूंजी को कहते हैं जो कच्चे माल और श्रम-शक्ति को खरीदने में लगायी जाती है। व्यापार की दृष्टि से इस पूंजी की वापसी प्रत्येक वस्तु की बिक्री के साथ ही साथ होती है। प्रत्येक वस्तु के उत्पादन में लगे कुल कच्चे माल और श्रम-शक्ति की दामों को उस वस्तु के दाम में शामिल कर लिया जाता है।

पूंजी का इस प्रकार विभेद करने से शोषण का स्वरूप छिप जाता है। जीवित मनुष्य का श्रम भी कच्चे माल की श्रेणी में आ जाता है और ऐसा मालूम होने लगता है कि पूंजीपति को जो अतिरिक्त मूल्य प्राप्त होता है उसके उत्पादन में कच्चे माल का भी उतना ही हाथ है जितना कि मनुष्य की श्रम-शक्ति का।

शोषण के विभिन्न स्वरूप

हम पहले देख चुके हैं कि मजदूर का कार्य-दिवस दो भागों में बांटा जा सकता है—आवश्यक कार्य-काल तथा अतिरिक्त कार्य-काल। आवश्यक कार्य-काल में मजदूर अपनी जीविका पैदा करता है और अतिरिक्त कार्यकाल में वह पूंजीपति के लिए अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है। मान लीजिए कि किसी मजदूर का कार्य-दिवस १२ घन्टे का है और इसमें ६ घण्टे आवश्यक कार्य-काल के हैं तो शेष ६ घण्टे अतिरिक्त कार्य-काल के हुए। कार्य-दिवस का विभाजन इस प्रकार हुआ—

कार्य-दिवस १२ घण्टा	
आवश्यक कार्य-काल ६ घण्टा	अतिरिक्त कार्य-काल ६ घण्टा

कार्य-काल को देखते हुए अतिरिक्त मूल्य की दर इस प्रकार तय होगी :—

$$\frac{\text{अतिरिक्त मूल्य}}{\text{परिवर्तनशील पूंजी}} = \frac{\text{अतिरिक्त कार्य-काल}}{\text{आवश्यक कार्य-काल}} \times १००$$

$$= \frac{\text{६ घण्टा}}{\text{६ घण्टा}} \times १०० = १०० \text{ प्रतिशत}$$

पूंजीपति अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए अनेक साधनों का इस्तेमाल

करते हैं। अतिरिक्त मूल्य को बढ़ाने का एक सबसे सीधा-सादा तरीका मजदूरों के काम के घण्टे (उनका कार्य-दिवस) बढ़ा देने का होता है। अगर मजदूर के काम के आवश्यक समय में कोई परिवर्तन न हो और उसका कार्य-दिवस अधिक लम्बा कर दिया जाय तो स्वाभाविक रूप से अतिरिक्त कार्य-काल बढ़ जाता है। इस तरह पूंजीपति को मिलने वाली अतिरिक्त मूल्य की रकम बढ़ जाती है। मिसाल के लिए यदि मजदूर का आवश्यक कार्य-काल ६ घण्टा ही बना रहे और कार्य-दिवस १२ घण्टे से बढ़ाकर १५ घण्टा कर दिया जाय तो अतिरिक्त कार्य-काल ९ घण्टे हो जायगा। इस तरह अतिरिक्त मूल्य की दर होगी :—

$$\frac{\text{अतिरिक्त कार्य-काल ९ घण्टा}}{\text{आवश्यक कार्य-काल ६ घण्टा}} \times १०० = १५० \text{ प्रतिशत}$$

मजदूर का कार्य-दिवस बढ़ाकर जो अतिरिक्त मूल्य की बढ़ी हुई रकम मिलती है उसे "पूर्ण अतिरिक्त मूल्य' (एब्सोल्यूट सरप्लस वैल्यू) कहते हैं।

पूंजीपतियों की ओर से इस पूर्ण अतिरिक्त मूल्य को अधिक से अधिक मात्रा में प्राप्त करने की कोशिश की जाती है। अगर उनका बस चले तो मजदूर से पूरे चौबीस घण्टे काम लेना शुरू कर दें। लेकिन वह ऐसा नहीं कर पाते क्योंकि एक तो मजदूर की शारीरिक दृष्टि से यह असम्भव हो जाता है, इसके अलावा नैतिक दृष्टि से भी अन्य कामों के लिए, अपने घर के काम, मनोरंजन आदि के लिए मजदूर को समय चाहिए। पूंजीवाद के प्रारम्भिक दौर में हर देश में काम के घण्टे बहुत ज्यादा थे किन्तु मजदूर वर्ग ने इसके विरुद्ध आवाज उठायी। अन्त में यह काम के घण्टे कम हुए और आगे बढ़े हुए पूंजीवादी देशों में मजदूरों ने आठ घण्टे का कार्य-दिवस प्राप्त कर लिया।

अतिरिक्त मूल्य बढ़ाने का एक अन्य तरीका भी होता है जिसमें कार्य-दिवस की लम्बाई वही बनी रहती है लेकिन आवश्यक-श्रम के समय में

कमी कर दी जाती है। यह तभी हो सकता है जब श्रम की उत्पादन-शक्ति (प्रोडक्टिविटी आफ लेबर) में वृद्धि हो जाय। श्रम की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि के कई तरीके हो सकते हैं। अच्छी मशीनों का प्रयोग इनमें से एक तरीका है। उन्हीं मशीनों के रहते हुए भी उनकी रफ्तार बढ़ा कर या श्रमिक के काम की तेजी अथवा घनत्व बढ़ा कर (इन्टेन्सिटी आफ लेबर) उत्पादन-शक्ति भी बढाई जा सकती है। श्रम की उत्पादन-शक्ति बढ़ने पर मजदूर उतने ही समय में अधिक मूल्य की वस्तुयें पैदा करने लगता है। इस प्रकार उसके आवश्यक श्रम-काल में कमी आ जाती है और अतिरिक्त श्रम-काल अपने-आप बढ़ जाता है। अतिरिक्त श्रम-काल बढ़ने से अतिरिक्त मूल्य भी बढ़ जाता है।

मजदूरों के कार्य-दिवस को बढ़ाये बगैर श्रम की उत्पादन-शक्ति की वृद्धि के द्वारा उनके आवश्यक कार्य-काल को घटाकर पूंजीपति अतिरिक्त मूल्य की जो रकम प्राप्त करता है उसे **"सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य"** (रिलेटिव सरप्लस वैल्यू) कहते हैं।

मिसाल के लिए आज एक मजदूर १२ घण्टे प्रतिदिन काम करके २४ गज या मीटर कपड़ा तैयार करता है और उसके काम में आवश्यक समय के ६ घण्टे हैं। वही मजदूर यदि इतने ही समय में ३६ गज या मीटर कपड़ा तैयार करने लगे तो उसके काम के आवश्यक समय में कमी हो जायगी क्योंकि पूंजीपति केवल १२ गज कपड़ा बेचकर उसकी मजदूरी अदा करेगा जिसे बनाने में अब पहले से कम समय लगेगा। आवश्यक कार्य-काल ६ घण्टे से घट कर ४ घण्टे हो जायगा और अतिरिक्त कार्य-काल ६ घण्टे से बढ़ कर ८ घण्टे हो जायगा। अब अतिरिक्त मूल्य की दर होगी :—

$$\frac{\text{८ घण्टे}}{\text{४ घण्टे}} \times \text{१०० अर्थात् २०० प्रतिशत।}$$

सापेक्ष अतिरिक्त-मूल्य में पूंजीवादी शोषण का रूप उतना अधिक प्रत्यक्ष नहीं होता है जितना कि पूर्ण अतिरिक्त मूल्य में।

मजदूरों को वेतन देने के दो तरीके होते हैं—(१) समय के अनुसार या (२) तैयार माल के अनुसार या पीस रेट से। प्रायः लोग समझते हैं कि काम के अनुसार या पीस रेट में मजदूर को जो वेतन मिलता है उसके द्वारा उसका शोषण नहीं होता है। लेकिन ऐसा सोचना गलत है। तैयार माल के अनुसार वेतन निश्चित करते समय पूंजीपति पहले से ही हिसाब लगा लेता है कि एक औसत मजदूर एक दिन में कितना माल तैयार करता है और उस माल से कितना मूल्य प्राप्त होता है। इस तरह मजदूर जिस मूल्य का उत्पादन करता है वही माल की दर से वेतन तय करने का आधार है। पूंजीपति के लिए अतिरिक्त मूल्य की व्यवस्था करने के बाद मजदूरी दी जाती है। इस प्रकार के वेतन में मजदूर समझता है कि उसे उसके श्रम का पूरा मूल्य मिल रहा है और अधिक कमाने के लिए वह और भी अधिक वस्तुओं का उत्पादन करता है। पूंजीपति इन मजदूरों की ओर से अपेक्षाकृत अधिक निश्चिन्त हो जाता है क्योंकि उसे मालूम है कि मजदूरी का लालच मजदूर को और अधिक अतिरिक्त-मूल्य पैदा करने के लिए बाध्य करेगा।

अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करने के यह तरीके सभी पूंजीपतियों द्वारा काम में लाये जाते हैं। आम तौर से किसी वस्तु की लागत के दाम सभी पूंजीपतियों के लिए एक ही समान पड़ते हैं और उनको प्राप्त होने वाले अतिरिक्त मूल्य की दर में भी अन्तर नहीं होता है। फिर भी पूंजीपति व्यक्तिगत रूप से अपने वर्ग के अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक मुनाफा कमाने का कोई मौका हाथ से नहीं जाने देते हैं। इसके लिए वह अपनी वस्तुओं के उत्पादन में लगे हुए श्रम में खास तौर से कमी करते हैं। वह ऐसी मशीनें लगाते हैं जो अन्य पूंजीपतियों की मशीनों की तुलना में नयी हों और जिनके द्वारा कम दामों में अधिक मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन हो सके। इस प्रकार व्यक्तिगत पूंजीपति जो अधिक अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करते हैं उसे "विशेष अतिरिक्त मूल्य" (एक्स्ट्रा सरप्लस वैल्यू) कहते हैं।

विशेष अतिरिक्त मूल्य का पूंजीवादी समाज में महत्वपूर्ण स्थान है।

इससे पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में नवीन, सुधरे हुये तरीकों को जारी करने में मदद मिलती है। जब कोई पूंजीपति विशेष अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करने लगता है तो अन्य पूंजीपति भी उसके तरीकों की नकल करते हैं और अच्छी मशीनें लगाते हैं। लेकिन इसका दूसरा पहलू भी है जो पूंजीवादी समाज में उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व का अनिवार्य परिणाम है। जिन पूंजीपतियों के पास नई मशीने होती हैं वह चाहते हैं कि अन्य पूंजीपति नवीन आविष्कारों की सुविधा से वंचित रहें। इसके लिए वह इन आविष्कारों को अपने लिए सुरक्षित कर लेते हैं। इस तरह बड़े बड़े पूंजीपति अन्य छोटे छोटे पूंजीपतियों को बर्बाद करके अपने पास अधिकाधिक सम्पत्ति केन्द्रित कर लेते हैं। पूंजीवादी समाज में अन्ततोगत्वा विशेष अतिरिक्त मूल्य को प्राप्त करने की लालसा उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधक हो जाती है।

पूंजीवाद का विकास

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का जो विकसित रूप आज हमें दिखाई देता है वह एक ही दिन में नहीं पैदा हुआ। उत्पादन के साधनों की उन्नति क्रमशः हुई। सबसे पहले मशीनों का आविष्कार नहीं हुआ था बल्कि उत्पादन की वृद्धि मनुष्यों के साधारण सहयोग के द्वारा प्रारम्भ हुई। पूंजीपतियों ने एक ही स्थान पर बहुत से लोगों को एकत्रित करके उनसे किसी एक वस्तु का उत्पादन करवाना शुरू किया। व्यवहार में मालूम हुआ कि यदि एक ही वस्तु को बनाने वाले कई कारीगर एक स्थान पर काम करते हैं तो उनके उत्पादन की रफ्तार बढ़ जाती है। यह पूंजीवादी साधारण सहकारिता थी।

पूंजीवादी साधारण सहकारिता में प्रत्येक कारीगर अलग अलग अपनी वस्तु तैयार करता है किन्तु अनेक करीगर एक ही स्थान पर काम करते हैं। इससे वस्तुओं की पैदावार बढ़ने के साथ साथ मकान किराया, रख-रखाव, सफाई, प्रकाश आदि का व्यय भी कम हो जाता है। क्रमशः उत्पादन प्रक्रिया में यह भी मालूम हो जाता है कि कौन सा मजदूर वस्तु के उत्पादन की

किस प्रक्रिया की अधिक जानकारी रखता है तथा उत्पादन-प्रक्रिया के किसी विशेष अंग को किस तरह अधिक सुगमता के साथ पूरा किया जाता है। इस तरह श्रम-विभाजन का जन्म होता है। श्रम-विभाजन के आधार पर कारखानों (मैनुफैक्चर्स) का विकास होता है।

यही कारखाने आगे चलकर पूंजीवादी फैक्टरी मे विकसित हो जाते है। इन कारखानो मे मशीनो से काम नही होता था बल्कि औजारो से काम लिया जाता था। औजार और यन्त्र (मशीन) मे अन्तर है। औजार का इस्तेमाल करने के लिए हाथ की जरूरत होती है, जैसे कि बढ़ई की आरी या दर्जी की सुई एक औजार है। मशीन अथवा यन्त्र मे हाथ का काम भी एक पुर्जा करने लगता है। सिलाई मशीन में सुई को पकड़ने और चलाने के लिए, कपड़ा खिसकाने के लिए तथा डोरे को खीचने के लिए हाथ की आवश्यकता नही होती है। हाथ केवल कपड़े की सिलाई की दिशा नियंत्रित करता है। इसी तरह लकड़ी फाड़ने की आरा मशीनें भी बढ़ई की आरी से भिन्न हैं।

कारखानो मे श्रम के विभाजन के कारण मशीनो को बनाने मे आसानी हुई, वही ऐसे मजदूर मिले जो मशीनो को चला सकते थे। धीरे-धीरे मशीनों की बनावट मे सुधार हुआ और उनका व्यवहार करना अधिक आसान हो गया। भाप के इन्जनो और बिजली के प्रयोग से एक साथ कई मशीनो का चलाना सम्भव हो गया। आज के विशाल पूंजीवादी कारखाने या उद्योग-गृह जिनमे मशीनो का एक सिलसिला उत्पादन की प्रक्रिया को पूरा करता है, इसी तरह सामने आये।

पूंजीवादी फैक्टरी और मशीनो ने उत्पादन मे लगे हुए मनुष्यो (मजदूरो) का रूप बदल दिया। अब उनकी व्यक्तिगत दक्षता का महत्व घट गया। इसी प्रकार शक्ति की भी उतनी आवश्यकता नही रह गयी। थोड़े ही दिनो मे अब काम सीखकर एक मजदूर तैयार हो जाता और पुरुषो का काम स्त्रियाँ तथा बच्चे भी कर सकते थे। इस प्रकार मशीनो के आविष्कार से पुराने कारीगरों के पैरो के नीचे से जमीन खिसक गयी। फैक्टरी के भीतर भी अब मनुष्य अपनी दक्षता, शक्ति और अनुभव के आधार

पर औजारों को नहीं चलाता था बल्कि मनुष्य की कार्य-कुशलता इसमें थी कि वह किस हद तक मशीन के साथ कदम मिलाकर चल सकता है। पहले औजारों को मनुष्य चलाता था अब मनुष्य मशीन के अनुसार चलने लगा।

फैक्टरी (यांत्रिक कारखानों) के चलने से पूरे समाज की उत्पादन व्यवस्था पर असर पड़ा। मशीनों को बनाने के लिए लोहे की आवश्यकता होती है, लोहे के लिए कोयला चाहिए, कोयला निकालने के लिए अन्य मशीनें चाहिए, कोयले को ढोने के लिए रेलें चाहिए—इस प्रकार तमाम उद्योग धन्धे एक दूसरे से सम्बन्धित हो जाते हैं। उत्पादन का स्वरूप सामाजिक हो गया—पूरे समाज की दृष्टि से भी और अलग-अलग फैक्टरियों के भीतर काम की दृष्टि से भी, किन्तु उत्पादन के साधनों का स्वामित्व व्यक्तिगत रहा। यही पूंजीवादी समाज का सबसे बड़ा अन्तर्विरोध है। यह अन्तर्विरोध उत्पादन की शक्तियों की प्रगति में बाधक है। इसलिए कम्युनिस्ट मांग करते हैं कि इस अन्तर्विरोध को खतम किया जाय और सामाजिक उत्पादन पर समाज का स्वामित्व स्थापित किया जाय।

मजदूरी के विभिन्न स्वरूप

पूंजीवादी शोषण को अच्छी तरह समझने के लिए मजदूरी के स्वरूपों को कुछ विस्तार के साथ देखना होगा। अभी तक हम इतना कह चुके हैं कि पूंजीपतियों का यह दावा गलत है कि मजदूर को उसके श्रम के दाम दिये जाते हैं। जिस समय मजदूर को पूंजीपति नौकर रखता है उस समय उसके श्रम का कहीं पता नहीं रहता है। मजदूर के पास केवल उसकी श्रम-शक्ति रहती है। पूंजीपति इसी श्रम-शक्ति का सौदा तय करता है।

मजदूर को उसका वेतन तब मिलता है जब कि वह कुछ समय तक काम कर लेता है। श्रम-शक्ति का सौदा अन्य वस्तुओं की भाँति नहीं पूरा होता है जिनके दाम पहले दिये जाते हैं या वस्तु के विनिमय के साथ ही दिये जाते हैं। श्रम-शक्ति का मालिक मजदूर पहले अपनी वस्तु पूंजीपति को देता है फिर बाद में पूंजीपति से उसके दाम प्राप्त करता है। यह दाम

कभी काम के समय के अनुसार मिलते हैं और कभी मजदूर द्वारा बनाई गयी वस्तुओं के परिमाण के अनुसार। इन दोनों ही प्रकार की मजदूरी का उल्लेख किया जा चुका है।

बनाई गयी वस्तुओं पर आधारित पीस-रेट मजदूरी की प्रथा पहले नहीं थी। प्रारम्भ में सिर्फ समय के अनुसार वेतन मिलता था। अब बनाई हुई वस्तुओं के आधार पर मजदूरी देने का प्रचलन अधिक है। इस प्रकार की मजदूरी से ऐसा प्रतीत होता है कि मजदूर को उसके श्रम के पूरे दाम मिल रहे हैं। वास्तव में मजदूर को केवल उसकी श्रम-शक्ति का मूल्य मिलता है और श्रम-शक्ति के नकदी (मुद्रा—रूप में) मूल्य का नाम ही मजदूरी है। मजदूरी के रूप में मजदूर को उसकी श्रम-शक्ति के उत्पादन में लगा हुआ मूल्य ही मिलता है।

तैयार वस्तुओं के अनुसार मजदूरी देते समय भी पूंजीपति पहले से देख लेता है कि एक दिन में एक मजदूर कितनी मात्रा में किसी वस्तु का निर्माण कर सकता है। इसी हिसाब से वह उस वस्तु के लिए मजदूरी की दर नियत करता है। पहले एक उदाहरण के द्वारा हम देख चुके हैं कि किस प्रकार आवश्यक श्रम-काल के घटने से अतिरिक्त मूल्य में वृद्धि हो जाती है। यह नियम यहां भी लागू होता है। उदाहरण के लिए यदि एक मजदूर को १२ घण्टे की मजदूरी के लिए २ रुपये प्रतिदिन मिलते हैं तो वस्तुओं के अनुसार मजदूरी तय करते समय मालिक यह देखेगा कि वह १२ घण्टे में कितने गज कपड़ा बुनता था। यदि वह १२ घण्टे में २० गज कपड़ा बुनता था और अपने आधे समय (६ घण्टों में) अपनी जीविका के साधन हासिल कर लेता था तो पूंजीपति के लिए दस गज कपड़े का मूल्य अतिरिक्त मूल्य के रूप में बच रहता था। अब भी पूंजीपति का प्रयास यही होगा कि उसके पास १० गज कपड़े का मूल्य बचा रहे और मजदूर के आवश्यक श्रम-काल में वृद्धि न हो। इसलिए वह इस मजदूरी को पूरी वस्तुओं के दामों में फैला देगा और अर्थात मजदूर को २० गज कपड़े के लिये २ रुपये मजदूरी देगा अर्थात् प्रति गज २/२० रुपया या १० पैसे मजदूरी मिलती।

पूंजीपति इस मजदूरी को घटाने की भी कोशिश करते हैं। मजदूरी तय करने के अन्य नये तरीके भी ईजाद कर लिए गये हैं। पूंजीपति किसी अच्छे मजबूत और कुशल मजदूर को काम में लगाकर देखते हैं कि वह एक दिन में कितनी वस्तुयें बना सकता है। इसी आधार पर वह तय करते हैं कि एक दिन में इतनी मात्रा में किसी वस्तु के बनाने वाले को निम्नतम कितनी मजदूरी मिलेगी। पूंजीपति यह भी कहते हैं कि इसके ऊपर काम करने वाले को अतिरिक्त मजदूरी मिलेगी। परिणाम स्वरूप हर मजदूर अपने काम के उस अंश को पूरा करने के लिए जी तोड़ कोशिश करता है जो निम्नतम मजदूरी हासिल करने के लिए आवश्यक है। जो मजदूर इतना काम नहीं कर पाते हैं उनके लिये मजदूरी की दर अलग होती है और वह तुलनात्मक दृष्टि से और भी कम होती है।

मशीनों की रफ्तार तेज करके भी पूंजीपति मजदूर से अधिक काम लेता है। इस ढंग से वह काम के घन्टे बढ़ाये बगैर ही अधिक मुनाफा कमा लेता है। लेकिन पूंजपतियों ने एक और की नई तरकीब निकाल ली है। वे मजदूरों को अपने मुनाफे का "साझेदार" बनाते हैं। इस साझेदारी की योजना में मजदूर से कहा जाता है कि उसे अन्य कारखानों की अपेक्षा दैनिक वेतन तो कम मिलेगा लेकिन साल के आखिर में जो मुनाफा होगा उसका एक अंश मजदूरों में बाँट दिया जायगा। फलस्वरूप हर मजदूर अधिक से अधिक उत्पादन बढ़ाने की कोशिश करता है क्योंकि उसे मुनाफे के अंश के प्राप्त होने का लालच रहता है। मजदूरों में भ्रम पैदा होता है कि वे वास्तव में उद्योगपतियों के साझेदार हैं और मालिक से उनके हितों का कोई संघर्ष नहीं है।

पूंजीवादी देशों में मजदूरों की आपसी प्रतियोगिता का इस्तेमाल उनके वेतन की दरें गिराने के लिए किया जाता है। बेकार मजदूरों की फौज हमेशा इस काम में शोषकों की सहायता करती है क्यों कि वह लोग कम मजदूरी पर काम में लगे हुए मजदूरों का स्थान लेने के लिए तैयार रहते हैं। इस काम में बेकार मजदूरों के साथ साथ पूंजीपति वर्ग स्त्रियों

और बच्चों का भी इस्तेमाल करता है। मशीनों की उन्नति के साथ साथ स्त्रियों और बच्चों के लिए भी एक वयस्क पुरुष के बराबर काम करना सम्भव हो जाता है। फिर भी स्त्रियों और बच्चों को उनके काम के लिए मजदूरी कम दी जाती है। बराबर काम के लिए बराबर मजदूरी का सिद्धान्त पूँजीपति लागू नहीं करते हैं।

नाम की मजदूरी : वास्तविक मजदूरी

मजदूर को जो मजदूरी मिलती है उसे दो प्रकार से देखा जा सकता है। पूँजीवाद के प्रारम्भिक काल में मुद्रा के रूप में मजदूरी कम मिलती थी। सामान के रूप में मजदूरी देने का रिवाज अधिक था। लेकिन अब नगदी (मुद्रा के रूप में) मजदूरी का प्रचलन है। अत. पहले हमें यह देखना चाहिए कि किसी मजदूर को नगदी मजदूरी कितनी मिलती है। मुद्रा के रूप में मिलने वाली मजदूरी को "नाम की मजदूरी" (नामिनल वेज) कहते हैं।

मजदूरी की हालत सही तौर से जानने के लिए केवल इतना जानना काफी नहीं है कि उसे नाम की मजदूरी कितनी मिलती है। अर्थात् उसे कितने रुपये प्रतिदिन या हर महीने मिलते हैं। साथ ही साथ यह भी देखना होगा कि इस नगदी मजदूरी से जीवन की आवश्यक वस्तुयें किस हद तक प्राप्त की जा सकती हैं। मजदूरी को अब जीवन की आवश्यक वस्तुओं में परिवर्तित करके देखते है तो उसे "वास्तविक मजदूरी" (रियल वेज) कहते हैं।

नाम की मजदूरी और वास्तविक मजदूरी के स्तरों मे काफी अन्तर होता है। यदि नाम की मजदूरी मे वृद्धि हो जाय तब भी यह नहीं कहा जा सकता है कि मजदूरों की वास्तविक मजदूरी मे वृद्धि हो गयी है। अक्सर ऐसा होता है कि नाम की मजदूरी मे जितनी वृद्धि होती है उससे कहीं अधिक वृद्धि वस्तुओ के दामों और सरकारी करो आदि में हो जाती है, जिससे मजदूर का जीवन स्तर ऊँचा नहीं उठ पाता है बल्कि कभी कभी नीचे गिर जाता है। हमारे देश का ही उदाहरण काफी है, जहाँ आज नगदी के रूप

में मजदूरों को पहले की अपेक्षा अधिक वेतन मिलता है लेकिन उनकी वास्तविक मजदूरी १९३९ ई० की वास्तविक मजदूरी से आगे नहीं जा सकी है।

पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ आवश्यक वस्तुओं के दाम भी बढ़ते जाते हैं। पूंजीवादी देशों में शिक्षा, चिकित्सा आदि का खर्च भी बढ़ता जाता है और टैक्सों में वृद्धि होती है। इसलिए नाम के वेतन में वृद्धि के बावजूद वास्तविक वेतन में वृद्धि नहीं होती है। वास्तविक मजदूरी का अन्दाजा लगाने के लिए देखना चाहिए कि नाम की मजदूरी कितनी मिलती है, खपत की आवश्यक वस्तुओं के दामों का स्तर क्या है, शिक्षा और स्वास्थ्य वगैरह पर कितना खर्च होता है, मकान-किराया और टैक्स कितने देने पड़ते हैं तथा अन्य ऊपरी खर्चों का क्याहाल है।

पूंजीपति वर्ग पूरी ताकत से कोशिश करता है कि मजदूरी में वृद्धि न होने पाये। वह उचित मजदूरी के लिए मजदूरों के आन्दोलनों को कुचलने की चेष्टा करता है ओर इसके लिए राजसत्ता के यंत्र—नौकरशाही और पुलिस का प्रयोग करता है तथा प्रचार के साधनों (समाचार पत्रों, रेडियो आदि) से भी इस काम में मदद लेता है। पूंजीपति वर्ग की इन कोशिशों के बावजूद मजदूर वर्ग का आन्दोलन आगे बढ़ता जाता है। मजदूर अपने संगठनों (ट्रेड-यूनियनों) की शक्ति के बल पर पूंजीपति वर्ग की संगठित शक्ति का जवाब देता है और अपनी मजदूरी को बढ़ाने के लिए लगातार संघर्ष करता रहता है।

कम्युनिस्ट इस संघर्ष को अत्यधिक महत्व देते हैं, क्योंकि इन संघर्षों के दर्मियान मजदूर वर्ग को यह अनुभव होता है कि पूंजीवादी व्यवस्था का अन्त करके ही पूंजीवादी शोषण से हमेशा के लिए मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

1 अध्याय | पूंजी का संचय तथा पूंजी का दैहिक अनुपात

पहले कहा जा चुका है पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था मे पूँजीपति उत्पादन साधनो को खरीदता है और उनके साथ साथ मनुष्यों की श्रम-शक्ति को खरीदता है। पूँजीपतियों को जो लाभ या मुनाफा प्राप्त होता है वह ादूरो द्वारा उत्पादित अतिरिक्त मूल्य है। इसी अतिरिक्त मूल्य पर ोपति वर्ग की सम्पन्नता निर्भर करती है।

नरोत्पादन—साधारण तथा परिवर्द्धित

अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करने की लालसा ही पूँजीपति वर्ग को उत्पादन प्रक्रिया को जारी रखने और उसे आगे बढाने के लिए प्रेरित करती है। ट कोई पूँजीपति अपनी मौलिक पूँजी को अतिरिक्त मूल्य द्वारा बढाये ो और उसे अपने काम मे लाना शुरू कर दे तो थोडे ही दिनो मे वह ाल हो जायगा। मूल पूँजी से यदि व्यय होता रहे तो किसी भी कारोबार चलना असम्भव है। अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन की प्रक्रिया का जारी ना न केवल पूजीपति वर्ग के निजी व्यय के लिए आवश्यक है बल्कि ीवादी उत्पादन प्रक्रिया को जारी रखने के लिए भी जरूरी है।

उत्पादन की प्रक्रिया को समझने के लिए हम एक उदाहरण लें। मान जिये कि किसी कारखाने मे एक पूँजीपति ने १ लाख रुपये उत्पादन के धनो मे (मशीनों, कच्चे माल आदि मे) सतत पूजी के रूप मे लगा रखे, और वह हर साल २० हजार रुपये मजदूरी के रूप मे देता है। यदि

उसकी इस परिवर्तनशील पूंजी पर १०० प्रतिशत का अतिरिक्त मूल्य मिले तो उस पूंजीपति को प्रतिवर्ष २० हजार रुपये अतिरिक्त मूल्य के रूप में मिलेंगे। यदि वह पूंजीपति इस २० हजार रुपये की आय की सीमा के भीतर ही अपने व्यक्तिगत खर्चों को रखता है तब तो उसका काम चलेगा अन्यथा वह दिवालिया हो जायगा।

इतना ही नहीं, अपने निजी व्यय के अलावा उस पूंजीपति को अतिरिक्त मूल्य की रकम में से एक हिस्सा हर साल बचाकर रखना भी पड़ेगा ताकि वह कारखाने की पैदावार को चालू रखने के लिए लगाया जा सके। सभी जानते हैं कि पूंजीपति ने अपनी एक लाख की सतत पूंजी से जो मशीनें खरीदी थीं वह हमेशा के लिए काम नहीं दे सकती हैं। आगे चलकर नयी मशीनों का आविष्कार होगा और यदि उक्त पूंजीपति इन अच्छी और अधिक कीमती मशीनों को नहीं खरीदेगा तो अपने वर्ग के अन्य सदस्यों के सामने प्रतियोगिता में नहीं ठहर सकेगा। इसका अर्थ है कि उत्पादन की प्रक्रिया को आगे जाने के लिए मूल पूंजी में वृद्धि होनी चाहिये।

उपर्युक्त उदाहरण से उत्पादन प्रक्रिया के दो स्वरूप हमारे सामने आते हैं। पहला वह है जिसमें उत्पादन के साधनों तथा श्रम-शक्ति में लगी हुई पूंजी वही बनी रहती है। इसमें वस्तुओं के उत्पादन के परिणाम में कोई फर्क नहीं पड़ता है। अतिरिक्त मूल्य की रकम मिलती है उसे पूंजीपति अपने निजी काम में लाता है। इस तरह पूंजी की लागत और वस्तुओं के उत्पादन के परिणाम को जैसे का तैसा रखते हुए जो उत्पादन होता है और जिसके अतिरिक्त मूल्य को पूंजीपति अपने निजी व्यय कें काम में लाता है उसे साधारण पुनरोत्पादन (सिम्पिल रिप्रोडक्शन) कहते हैं।

साधारण पुनरोत्पादन पूंजीवाद के विकास के आरम्भ में अधिक होता था जब कि पूंजीपति थोड़े से मजदूरों से काम करवाता था, बड़े बड़े कारखाने चालू नहीं हुये थे और बड़ी मशीनों का प्रचलन नहीं था। उस समय पूंजीपति को अतिरिक्त मूल्य भी कम मिलता था। इस अतिरिक्त मूल्य को

पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था के विकास को इस तरह साफ तौर से समझा जा सकता है। अतिरिक्त मूल्य के द्वारा ही पूंजी का संचय होता है। आज जो बड़े-बड़े पूंजीपतियों के कल-कारखाने दिखाई देते हैं वह उस पूंजी के आधार पर नहीं बन सकते थे जो पूंजीपतियों ने शुरूआत में लगायी थी। पूंजीपतियों की सारी फिजूल खर्चियों और ऐश-आराम के बावजूद उनकी पूंजी का आकार बढ़ता गया। इसके मूल में अतिरिक्त मूल्य है—मजदूरों का अतिरिक्त श्रम है। यदि आज सरकार की ओर से इन कारखानों का राष्ट्रीयकरण भी कर दिया जाय तो पूंजीपतियों को अधिक शिकायत नहीं होनी चाहिए क्योंकि उन्होंने जितनी मूल पूंजी लगायी थी उससे कहीं अधिक रुपया बीसों वर्षों में पा भी चुके हैं, वास्तव में राष्ट्रीयकरण के द्वारा सरकार को मजदूरों के पैदा किये हुये अतिरिक्त मूल्य की यह संचित रकम ही मिलेगी।

पूंजी का दैहिक अनुपात

मार्क्स द्वारा बताये गये पूंजी के दो स्वरूपों—सतत पूंजी और परिवर्तनशील पूंजी का उल्लेख किया जा चुका है। इसी के आधार पर मार्क्स ने पूंजी के दैहिक अनुपात (आर्गेनिक कम्पोजीशन) का वर्णन किया और बताया कि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत पूंजी का दैहिक अनुपात लगातार अधिक ऊंचा या भारी होता जाता है और पूंजी के दैहिक अनुपात के ऊंचा होने से भी श्रमिक वर्ग के शोषण में वृद्धि होती है।

पूंजी के दैहिक अनुपात का अर्थ क्या होता है? पूंजी के दैहिक अनुपात से हमारा तात्पर्य है किसी उद्योग में लगी हुई सतत पूंजी और परिवर्तनशील पूंजी के बीच के अनुपात से। जिस पूंजी का सतत भाग जितना हीं बड़ा होता है उसका दैहिक अनुपात उतना ही ऊंचा होता है। उच्चतर दैहिक अनुपात (हाइयर आर्गेनिक कम्पोजीशन) की पूंजी का अर्थ है सापेक्ष रूप से अधिक सतत अंश वाली पूंजी। इसके विपरीत यदि पूंजी

नहीं होती है उन्हें पूंजीवादी अर्थशास्त्री "आधिक्य जनसंख्या" का नाम प्रदान करते हैं। उनका प्रयास पूंजीवादी अर्थतंत्र के विकास के नियम पर पर्दा डालकर यह दिखाने का होता है कि जनसंख्या बढ़ जाने की वजह से लोगों को काम नहीं मिल पाता है। इसलिए इस समस्या को हल करने के लिए जनसंख्या को कम करने का नारा दिया जाता है।

ऐसे ही एक अर्थशास्त्री माल्थस साहब थे। उनका कथन था कि जब आबादी अधिक बढ़ जाती है तो उसके खाने-पीने आदि का इन्तजाम नहीं हो पाता है। फलस्वरूप लोगों में महामारियाँ और बीमारियाँ फैलती हैं या फिर युद्ध होते हैं। इन युद्धों और बीमारियों के कारण जनसंख्या कम हो जाती है, संतुलन फिर से कायम हो जाता है और लोगों की हालत सुधर जाती है। इस विचारधारा के अनुसार युद्धों और बीमारियों को संसार के लिए एक वरदान समझना चाहिये क्योंकि इनसे प्राकृतिक तौर पर लोगों की दशा में सुधार हो जाना चाहिए। पूंजीवादी सरकारें किसी न किसी रूप में माल्थस के सिद्धान्त को मानती हैं। उनके नेता अक्सर अतिरिक्त जन-संख्या की बात किया करते हैं और सलाह देते रहते हैं कि संतति-निग्रह या परिवार नियोजन के द्वारा जनसंख्या को कम करना चाहिए भारत सरकार भी इसका अपवाद नहीं है। उसकी योजना में परिवार नियोजन का महत्वपूर्ण स्थान है।

इस समस्या के बारे मे मार्क्स ने लिखा है :—

"जितना ही अधिक सामाजिक सम्पत्ति होती है, क्रियाशील पूं होती है, उसकी वृद्धि की व्यापकता और शक्ति होती है और इसके फ स्वरूप सर्वहारा का पूर्ण आकार भी जितना ही अधिक बड़ा होता है त उसकी श्रम की उत्पादकता जितनी अधिक होती है उतनी ही ज्यादा ब औद्योगिक सुरक्षित सेना होती है। जिन कारणों से पूंजी की विस्तार-श का विकास होता है, उन्हीं कारणों से उसे प्राप्य श्रम-शक्ति का भी विका

होता है। अतएव सम्पत्ति की निहित शक्ति (ऊर्जा) के साथ साथ औद्योगिक सुरक्षित सेना का आकार भी सापेक्ष रूप से बढ़ता जाता है। लेकिन सक्रिय श्रमिकों की सेना के अनुपात में यह सुरक्षित सेना जितनी अधिक बड़ी होती है, उतना ही अधिक बड़ा उस एकत्रित अतिरिक्त जनसंख्या का आकार होता है जिसकी दरिद्रता उसके श्रम के कष्टों की तुलना मे उल्टे अनुपात में घटती बढ़ती रहती है। अन्त मे, गरीब-और तबाह मजदूरों का वर्ग जितना ही अधिक विस्तृत होता है और औद्योगिक सुरक्षित सेना जितनी ही अधिक बड़ी होती है उतनी ही अधिक सरकारी तौर पर गरीबी होती है। **यह पूंजीवादी सचय का विशुद्ध सामान्य नियम है।**" ("कैपिटल" प्रथम भाग अंग्रेजी संस्करण, मास्को, पृ० ६४४)

इस बेकारों और दरिद्रों की सेना मे कई प्रकार के लोग रहते हैं। बड़े मे बड़े पूंजीवादी देश मे लाखों की सख्या मे ऐसे मजदूर मिलेंगे जो पूरी तरह बेकार है। सन् १९६२ मे विश्व के सबसे शक्तिशाली पूंजीवादी देश संयुक्त राज्य अमेरिका मे पूर्ण रूप से बेकार लोगों की सख्या ४० लाख थी। इसके अलावा ऐसे मजदूर या छोटे छोटे कारीगर होते हैं जिन्हे कभी काम मिलता है और कभी नही मिलता है। यह आंशिक रूप से काम करते हुए किसी तरह गुजर बसर करते है। मार्क्स ने इनका नामकरण करते हुए कहा है कि यह "गतिहीन" (स्टेगनेन्ट) सुरक्षित सेना है। पूंजीवाद के विकास के साथ हर साल देहात मे ऐसे बेकार मजदूर और छोटे किसान पैदा होते रहते हैं जिनके पास जीविका के साधन नही होते है और जो शहरों मे जाकर काम करने के लिए तैयार रहते हैं। मार्क्स के शब्दों मे यह 'गुप्त" (लैटेन्ट) सुरक्षित सेना है। अन्त में हमे भिखमगों और आवारा लोगों की फौज को भी नही भूलना चाहिए। यह भी अतिरिक्त जनसख्या के अन्तर्गत आते है।

पूंजीवादी सचय का पूरा इतिहास इसका साक्षी है। उसके फल-स्वरूप उत्पादन के साधन कुछ लोगों के हाथ मे केन्द्रित होते जाते हैं।

पूंजीवाद का प्रारम्भ सामन्तवाद के युग के छोटे छोटे वस्तु उत्पादकों से हुआ था। क्रमशः यह छोटे वस्तु उत्पादक गायब होते गये और उनकी जगह बड़े बड़े कल-कारखानों ने ले ली। इन कारखानों में लगी पूंजी का आकार बढ़ता गया। उत्पादन के साधनों का स्वामित्व छोटे पूंजीपतियों के लिए सम्भव नहीं रहा। सामाजिक श्रम और सामाजिक उत्पादन के साथ-साथ उत्पादन के निजी स्वामित्व का मेल बैठना सम्भव नहीं था। उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व और उसके कारण उत्पादन के निजी स्वामित्व के फलस्वरूप समाज का अधिकांश भाग मजदूरों में परिणत रहा। यह निजी स्वामित्व अब उत्पादन की वृद्धि में भी बाधक बन गया। पूंजीवादी व्यवस्था के अनिवार्य अंग सर्वहारा ने अपनी दशा को सुधारने के लिए संघर्ष किया और अनुभव से इस नतीजे पर पहुंचा कि पूंजीवादी व्यवस्था का अन्त करना आवश्यक है।

पूंजीवाद ने स्वयं अपने विनाश की परिस्थितियां तैयार कीं और उस शक्ति को जन्म दिया जो पूंजीवाद को समाप्त करेगी। अब तक संसार के एक तिहाई भाग में यह शक्ति अपना काम पूरा कर चुकी है और बाकी देशों में भी उसका अभियान जारी है।

छठवां | अतिरिक्त मूल्य का बँटवारा

अभी तक हमने यह देखा है कि अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन किस प्रकार होता है। अब हम इस पर विचार करेंगे कि अतिरिक्त मूल्य का वितरण किस प्रकार होता है।

पूंजीपतियों में कई तरह के लोग होते हैं। उनमें कुछ लोग ऐसे होते जो सीधे तौर पर वस्तुओं के उत्पादन से सम्बन्ध रखते हैं और कारखाने चलाते हैं। हम उन्हें उद्योगपति या औद्योगिक पूंजीपति (इन्डस्ट्रियल केपिटैलिस्ट) कहते हैं। पूंजीपतियों का एक भाग केवल वस्तुओं के खरीदने बेचने का काम करता है। उन्हें व्यापारी कहते हैं। कुछ पूँजीपति जमीन के मालिक होते हैं और उनकी आमदनी का साधन जमीन का लगान होता है। इसी तरह कुछ सूदखोर या महाजन होते हैं जो दूसरों को रुपया उधार देते हैं और उस रुपये का ब्याज वसूल करते हैं। पूंजीवादी अर्थशास्त्री यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि पूंजीपति अपने धन को "जोखिम" में डालते हैं और इस तरह अपने पैसे के बल पर पैदा करते हैं। उनका कथन यह भी है कि पूंजीपति अपने धन का प्रयोग करने देते हैं और इसी से लाभ या मुनाफा पैदा होता है। लेकिन वास्तविकता यह नहीं है।

पूंजी का आवर्तन

पहले हम पूंजी के संचार की प्रक्रिया को भी देख चुके हैं। पूंजी का यह संचार लगातार जारी रहता है। यदि पूंजी का संचार रुक जाय तो पूंजी का अस्तित्व ही मिट जायगा क्योंकि फिर अतिरिक्त मूल्य की प्राप्ति

होता है कि पूंजीपति ने शुरू में जो मुद्रा पूंजी के रूप में लगाई (मु) उसी से उसे अधिक मुद्रा (मु +) प्राप्त हुई। वास्तव में "मु" और "मु +" के बीच में उत्पादन की प्रक्रिया होती है जिसमें मनुष्य की श्रम शक्ति की सहायता से उत्पादन के साधनों को क्रियाशील बनाकर वस्तुओं का उत्पादन होता है। अतिरिक्त मूल्य का जन्म उत्पादन की प्रक्रिया में होता है संचार की प्रक्रिया में नहीं। पूंजी के वृत्ताकार आवर्तन में संचार की प्रक्रिया का भी महत्वपूर्ण स्थान है और उत्पादन के साथ संचार का अभिन्न सम्बन्ध है। फिर भी उत्पादन की प्रक्रिया का निर्णायक महत्व है।

पूंजीपति वर्ग के विभिन्न हिस्सों का जिक्र अभी कुछ पहले किया जा चुका है। औद्योगिक पूंजीपति का वास्ता सीधे तौर पर उत्पादन की प्रक्रिया से रहता है। इसलिए वह सीधे तौर पर मजदूरों से अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करता है। लेकिन यह अतिरिक्त मूल्य केवल उसी के पास नहीं रह जाता है, इसके भागीदार अन्य प्रकार के पूंजीपति भी होते हैं। इस अतिरिक्त मूल्य का एक भाग उन महाजनों या बैंकों के पास जाता है जो उद्योगपतियों को काम चलाने के लिए रुपया उधार देते हैं। एक अन्य भाग व्यापारियों के पास जाता है जो पूंजीवादी संचार प्रक्रिया में भाग लेते हैं और आखिर में एक हिस्सा उन भूस्वामियों को भी मिलता है जो उत्पादन के एक महत्वपूर्ण साधन जमीन के मालिक होते हैं।

अतिरिक्त मूल्य का बँटवारा "लाभ" या "मुनाफा" के नाम से होता है। औद्योगिक पूंजीपति को जो रकम मिलती है उसे "औद्योगिक लाभ" (इंडस्ट्रियल प्राफिट) कहते हैं, व्यापारी को "व्यापारिक लाभ" (कमर्शियल प्राफिट) मिलता है, महाजन या बैंकर को "ऋण का ब्याज" मिलता है और जमीन के मालिक को "लगान" या "किराया" मिलता है।

लाभ की दर और अतिरिक्त मूल्य की दर

लाभ की दर मालूम करने के लिए सबसे पहले यह देखा जाता है कि

किसी वस्तु के उत्पादन में कितनी लागत लगी है या उसका "लागत मूल्य" (कास्ट प्राइस) क्या है। इस लागत मूल्य के ऊपर जो रकम वस्तु के मालिक को मिलती है उसे लाभ कहते हैं। यदि किसी वस्तु में ८० रुपये लागत के लगे हैं और वह १०० रुपये में बिकती है तो उस पर २० रुपये का लाभ पूंजीपति को हुआ। "लागत-मूल्य" में दोनों ही प्रकार की पूंजी—सतत पूंजी और परिवर्तनशील पूंजी—शामिल रहती है।

लाभ की दर मालूम करने का तरीका अतिरिक्त मूल्य की दर मालूम करने के तरीके से भिन्न है। हम पहले देख चुके हैं कि अतिरिक्त मूल्य की दर तय करने लिए केवल परिवर्तनशील पूंजी और अतिरिक्त मूल्य के बीच का अनुपात देखा जाता है।

$$\text{अतिरिक्त मूल्य की दर} = \frac{\text{अ० मू०}}{\text{प० पू०}} \times १००$$

चूंकि लाभ की दर लागत-मूल्य के आधार पर तय की जाती है और लागत-मूल्य में परिवर्तनशील पूंजी के साथ सतत पूंजी भी शामिल रहती है इसलिए लाभ की दर (रेट आफ प्राफिट)

$$= \frac{\text{अ० मू०}}{\text{स० पू०} + \text{प०पू०}} \times १००$$

अब हम इसे स्पष्ट करने के लिए मान लें कि किसी उद्योग में ८० हजार रुपयें की सतत पूंजी और २० हजार रुपये की परिवर्तनशील पूंजी लगी है। उससे पैदा की गयी वस्तुओं का दाम १ लाख, २० हजार रुपया है। उस उद्योग का कुल लाभ हुआ १२००००—१ लाख अर्थात २० हजार रुपये।

$$\text{यहाँ लाभ की दर} = \frac{\text{२०००० लाभ}}{\text{८०हजार(स०पू०} + \text{२०हजार (प०पू०)}} \times १००$$

$$= \frac{२००००}{१००००० } \times १०० = २० \text{ प्रतिशत}$$

लाभ की दर जानने का तरीका भिन्न होते हुए भी यह नहीं समझना चाहिए कि "लाभ" और "अतिरिक्त मूल्य" में मौलिक अन्तर है। वास्तव में लाभ और अतिरिक्त मूल्य एक ही रकम को कहते हैं, उस रकम को जो किसी वस्तु के दाम से उसकी लागत (स्थिर पूंजी + परिवर्तनशील पूंजी) को निकालकर बचती है। ऊपर के उदाहरण में सूत उत्पादन के दाम १ लाख २० हजार रुपये हैं और स्थिर पूंजी तथा परिवर्तनशील पूंजी का जोड़ १ लाख रुपये है। इसलिए लाभ या अतिरिक्त मूल्य २० हजार रुपया है।

इसीलिए मार्क्स ने कहा है कि "लाभ" या मुनाफा "अतिरिक्त मूल्य" का परिवर्तित रूप है। जब हम अतिरिक्त मूल्य को "लागत-मूल्य" अर्थात् स्थिर पूंजी और परिवर्तनशील पूंजी के जोड़ के मुकाबले रख कर उसकी तुलना करते हैं तो उसे "लाभ की दर" कहते हैं। लेकिन जब हम अतिरिक्त मूल्य को केवल परिवर्तनशील पूंजी के सामने रख कर उसकी तुलना करते हैं तो "अतिरिक्त मूल्य की दर" कहते हैं।

पूंजीवादी अर्थशास्त्री केवल लाभ की दर से वास्ता रखते हैं क्योंकि उनका सरोकार इसी से है। पूंजीपति की दृष्टि हमेशा लाभ पर केन्द्रित रहती है। वह अपनी कुल पूंजी के लिए लाभ की दर बढ़ाने में हमेशा संलग्न रहता है। इसके लिए पूंजीपति सभी हथकण्डों का प्रयोग करता है।

"लाभ की दर" का हिसाब पूंजीवादी शोषण की असलियत पर पर्दा डालने का काम करता है। अतिरिक्त मूल्य की दर से लोगों को साफ तौर से मालूम हो जाता है कि पूंजीपतियों द्वारा मजदूरों का शोषण किस रफ्तार से हो रहा है—मजदूरों को पूंजीपति कितना वेतन देते हैं और उनसे कितना वसूल करते हैं। लेकिन लाभ की दर से ऐसा प्रतीत होता है कि इस लाभ अथवा अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन में मजदूरों का कोई हाथ नहीं है। पूंजीपतियों की पूंजी अपने आप ही बढ़ती हुई प्रतीत होती है। इस वृद्धि का प्रतिशत अनुपात भी उतना अधिक बड़ा नहीं मालूम होता है जितना

कि अतिरिक्त मूल्य की दर में। लाभ की दर तय करने में मजदूरी के रूप में दी जाने वाली पूंजी अलग से नजर नहीं आती है। परिवर्तनशील पूंजी को सतत पूंजी के साथ मिलाकर और उसके रिश्ते में अतिरिक्त मूल्य को रखकर जब पूंजीपति अपना हिसाब तैयार करते हैं तो चारों ओर पूंजी की ही महिमा दिखाई देती है। मुद्रा स्वतः विराट रूप धारण कर लेती है।

औसत लाभ और उत्पादन के दाम

पूंजीपति मजदूर की श्रम-शक्ति खरीदता है और उसी के बल पर अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करता है। वस्तुओं का मूल्य उनमें लगे हुए सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम के आधार पर निश्चित होता है। जो पूंजीपति वस्तुओं के उत्पादन में लगने वाले सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम को कम कर देते हैं वे अपने वर्ग के अन्य सदस्यों की तुलना में अधिक अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करते हैं जिसे विशेष अतिरिक्त मूल्य का नाम दिया गया है।

विशेष अतिरिक्त मूल्य का ही दूसरा नाम है—विशेष लाभ या अतिरिक्त लाभ। जिन उद्योगपतियों के पास उत्पादन के साधन सापेक्ष रूप से अधिक अच्छे होते हैं, जिनकी स्थिति अधिक सुविधाजनक होती है वे अन्य पूंजीपतियों की अपेक्षा कम लागत में वस्तुओं का उत्पादन कर लेते हैं और अतिरिक्त लाभ कमा लेते हैं। अतिरिक्त लाभ की सम्भावना एक ही उद्योग के विभिन्न मालिकों के बीच में ही नहीं बल्कि पृथक-पृथक उद्योगों के मालिकों के बीच में भी होती है।

पूंजी का प्रवाह स्वतः उन्हीं उद्योगों की ओर होता है जहां लाभ की दर ऊँची होती है। यदि आज किसी वस्तु के दाम अधिक ऊँचे हैं और उसकी माँग अधिक है तथा पूर्ति कम है तो पूंजीपति उसी की पैदावार की ओर अधिक ध्यान देने लगेंगे। फलतः उसकी पैदावार बढ़ जायगी। अधिक पैदावार होने पर उसके दाम गिर जायेंगे और उसके उत्पादक पूंजीपतियों को अतिरिक्त लाभ मिलना बन्द हो जायगा। इसी तरह किसी उद्योग का मालिक जब बेहतर मशीनों का प्रयोग करके अतिरिक्त लाभ प्राप्त करता

हैं तो अन्य पूंजीपति भी उन्हीं दरों का प्रयोग करने लगते हैं। इस तरह से विभिन्न पूंजीपतियों के लाभ की दरों के बीच अधिक अन्तर नहीं हो पाता। फलस्वरूप यह दर एक ही सी रहती है।

बाजार में वस्तुओं के दाम यह देख कर नहीं तय होते हैं कि उनका उत्पादन किस उद्योगपति के कारखाने में हुआ है और व्यक्तिगत रूप से इस उद्योगपति ने कितने लागत के दाम अदा किए हैं। बाजार में वस्तुओं के दाम उनके बाजार-मूल्य (मार्केट-वैल्यू) के अनुसार तय होते हैं। बाजार-मूल्य का अर्थ है कि किसी वस्तु के उत्पादन में सामाजिक तौर पर कितनी लागत की औसत पड़ी है। मूल्य के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते समय यहां भी कहा जा चुका है कि वस्तु का मूल्य उसमें लगे हुए "सामाजिक रूप से आवश्यक" श्रम के द्वारा निर्धारित होता है और इसी मूल्य के इर्द-गिर्द वस्तु का दाम (बाजारी मूल्य) तय होता है।

इस तरह विभिन्न उद्योगों के बीच पूंजी का प्रवाह जारी रहने और उद्योगपतियों के बीच पारस्परिक प्रतियोगिता के कारण वस्तुओं की लागत पर एक औसत मुनाफा निश्चित होता है। औसत मुनाफा या लाभ की औसत दर क्या है? जब एक ही आकार की पूंजी पर समान रूप से लाभ प्राप्त होता है तो उसे औसत लाभ कहते हैं।

किसी वस्तु के लागत-मूल्य में औसत लाभ की रकम जोड़कर जो दाम निश्चित किये जाते हैं उन्हें "उत्पादन के दाम" (प्राइस आफ प्रोडक्शन) कहते हैं। इस प्रकार उत्पादन के दाम=स्थिर पूंजी+परिवर्तनशील पूंजी+औसत लाभ। बाजार में वस्तुओं की बिक्री इसी औसत लाभ और उत्पादन के दाम के अनुसार होती है।

यदि हम विभिन्न वस्तुओं या उद्योगों को अलग-अलग करके देखें तो मालूम होगा कि यह उत्पादन के दाम हमेशा वस्तुओं के मूल्य के अनुसार ही

नहीं होते हैं यद्यपि सामाजिक रूप से कुल मूल्य उत्पादन के दामों के जोड़
के बराबर होते हैं। उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित तालिका को देखिए:-

उद्योग	पूंजी का दैहिक अनुपात स.पूं.+परि-पूं.	अतिरिक्त मूल्य की दर %	अतिरिक्त मूल्य	लाभ की दर%
चमड़ा	७०+३०	१००	३०	३०
कपड़ा	८०+२०	१००	२०	२०
इंजीनियरिङ्ग	९०+१०	१००	१०	१०
कुल जोड़	२४०+६०	१०० प्र.श.	६०	२० प्र.श.

उद्योग	वस्तु का मूल्य	औसत लाभ %	उत्पादन के दाम	मूल्य तथा उत्पादन के दाम में अन्तर
चमड़ा	१३०	२०	१२०	—१०
कपड़ा	१२०	२०	१२०	—
इंजीनियरिङ्ग	११०	२०	१२०	+१०
कुल जोड़	३६०	२० प्र. श.	३६०	—

इस तालिका में तीन भिन्न-भिन्न प्रकार के उद्योग दिये गये हैं। इन तीनों में पूंजी का दैहिक अनुपात अलग-अलग है। किन्तु मजदूरों के शोषण की रफ्तार में कोई अन्तर नहीं है। उनमें अतिरिक्त मूल्य की दर समान रूप से १०० प्रतिशत है। यदि हम इन तीनों वस्तुओं के दाम अलग-अलग मूल्य के अनुसार निश्चित करें तो चमड़ा उद्योग के मालिक को १०० की लागत पर ३० प्रतिशत लाभ होता है, कपड़ा-उद्योग में २० प्रतिशत लाभ होगा और इन्जीनियरिंग में केवल १० प्रतिशत। ऐसा होने पर सभी पूंजीपति चमड़ा उद्योग की तरफ दौड़ पड़ेंगे। लेकिन औसत लाभ के अनुसार जो उत्पादन के दाम तय होंगे उनमें चमड़ा उद्योग के मालिक को १३० के स्थान पर १२० मिलेंगे, कपड़ा उद्योग में स्थिति जैसी की तैसी रहेगी और

इन्जीनियरिंग में ११० के स्थान पर १२ मिलेंगे अर्थात लाभ की दर १० प्रतिशत से बढ़कर औसत २० प्रतिशत हो जायगी।

उपर्युक्त तालिका से मालूम होता है कि चमड़ा उद्योग के मालिक के लाभ की दर कम हो गयी और इन्जीनियरिंग के लाभ की दर उतनी ही बढ़ गयी। यह अवश्य हुआ लेकिन सामाजिक रूप से पूँजी के कुल लाभ में कोई अन्तर नहीं हुआ। सामाजिक रूप से कुल पूँजी ३०० है और उस पर अतिरिक्त मूल्य ६० है। औसत लाभ के द्वारा मजदूरों को कोई लाभ नहीं हुआ उनका शोषण उसी गति से जारी रहा। अन्तर केवल एक हुआ और वह यह कि जब समान रूप से पूँजीपति वर्ग में लाभ का बँटवारा हुआ तो चमड़ा-मजदूरों द्वारा उत्पादित अतिरिक्त मूल्य का एक अंश इन्जीनियरिंग उद्योग के मालिकों के पास चला गया।

इस उदाहरण में हम यह भी देख सकते हैं कि यदि किसी उद्योग में अतिरिक्त मूल्य की दर कम कर दी जाय तो उससे औसत लाभ कम हो जायगा। इसके विपरीत अगर किसी उद्योग में अतिरिक्त मूल्य की दर बढ़ा दी जाय तो उससे औसत लाभ भी बढ़ जायगा। पूँजी के औसत लाभ को ऊँचा रखने के लिए मजदूरों का शोषण अधिकाधिक तीव्रगति से होते रहना चाहिये। यदि उद्योग के किसी क्षेत्र में मजदूर का शोषण कम हो जाता है तो उससे पूरे पूँजीपति वर्ग के स्वार्थ को धक्का लगता है। इसीलिए जब किसी उद्योग के मजदूर अपनी मांगों के लिए संघर्ष करते हैं तो उन्हें न केवल अपने मालिकों का सामना करना पड़ता है बल्कि मालिकों का पूरा वर्ग उनकी मांगों का विरोध करता है।

उत्पादन के दाम को समझने के लिए इतना ही जान लेना काफी है कि सामाजिक रूप से "उत्पादन के दाम" का योग वस्तुओं के "मूल्य" के योग के बराबर होता है और पूरे "अतिरिक्त मूल्य" का योग कुल "लाभ" के बराबर होता है। मूल्य का नियम इसी प्रकार "उत्पादन के दाम" के माध्यम से अमल में आता है।

लाभ की दर और लाभ का योग

जैसे जैसे पूंजीवादी उत्पादन आगे बढ़ता है उसी प्रकार पूंजी का दैहिक अनुपात उच्चतर होता जाता है। मशीनों, इमारतों, कच्चे माल आदि में अपेक्षाकृत अधिक पूंजी लगती है और मजदूरों की संख्या उसी गति से नहीं बढ़ती है। पूंजी के दैहिक अनुपात के उच्चतर हो जाने से लाभ की दर में गिरावट आना स्वाभाविक है। लेकिन लाभ की दर में होने वाली इस गिरावट से पूंजी के कुल लाभ में कमी नहीं आती है। इसके विपरीत पूंजी के लाभ का योग बढ़ता जाता है। नीचे की तालिका में हम उदाहरण के तौर पर पूंजी की दो रकमों का उदाहरण दे रहे हैं जो बीस साल में दुगुनी हो गयी हैं, जिनके दैहिक अनुपात में तथा लाभ की दर में अन्तर है।

	कुल पूंजी	दैहिक अनु. स.पूं.प.पू.	अतिरिक्त मू. की दर	लाभ या अ० मूल्य	लाभ की दर
१९४० ई०	१० करोड़ रु०	६ + ४ करोड़	१००	४ करोड़	४० प्र.श.
१९६० ई०	२० करोड़ रु०	१५ + ५ "	१००	५ करोड़	२५ प्र.श.

इस उदाहरण में १९४० ई० में कुल पूंजी १० करोड़ रुपये थी। उसमें सतत पूंजी ६ करोड़ (६० प्रतिशत) थी और परिवर्तनशील पूंजी ४ करोड़ (४० प्रतिशत) थी। अतिरिक्त मूल्य की दर १०० प्रतिशत थी। इस हिसाब से लाभ की दर ४० प्रतिशत थी और कुल लाभ ४ करोड़ रुपये हो गया। १९६० में इसी उद्योग की पूंजी बढ़कर २० करोड़ हो गयी। पूंजी का दैहिक अनुपात भी उच्चतर हो गया। सतत पूंजी का अनुपात ६० प्रतिशत से बढ़कर ७५ प्रतिशत हो गया २० करोड़ में से १५ करोड़ और परिवर्तनशील पूंजी केवल २५ प्रतिशत रह गयी जब कि पहले ४० प्रतिशत थी। दोनों में अतिरिक्त मूल्य की दर समान रही। अन्त में हम देखते हैं कि पूंजी के लाभ की दर में तो कमी हुई, वह ४० प्रतिशत से घटकर २५ प्रतिशत रह गयी लेकिन लाभ के योग में कमी के स्थान पर वृद्धि हुई।

हुए लाभ ४ करोड़ के स्थान पर ५ करोड़ हुआ अर्थात कुल लाभ मे २५ प्रतिशत वृद्धि हुई।

इसलिए लाभ की दर मे होने वाली इस कमी को देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि पूंजीपति वर्ग अब गरीब होता जा रहा है और उसका अपने आप दिवाला पिट जायगा। पूंजीवादी पुनरोत्पादन इसी ढग से चलता है। पूंजी का दैहिक अनुपात उच्चतर होता है, उसके लाभ की दर में गिरावट आती है, फिर भी उसका कुछ लाभ बढ़ता जाता है और इसके फलस्वरूप दिन प्रति दिन पूंजी का आकार बढ़ता जाता है।

लाभ की दर मे गिरावट को रोकने के लिए पूंजीपति मजदूरो का शोषण और भी तेज करते हैं। इसके लिए वे मजदूरो की सुविधाओ को देने से इनकार करते है और नये-नये हथकण्डों से काम लेते हैं। अपने लक्ष्य मे पूंजीपति वर्ग काफी हद तक कामयाब भी होता है। यदि ऐसा न होता तो लाभ की दर की गिरावट एक प्रवृत्ति या रुझान के रूप मे न रहती बल्कि एक अनिवार्य नियम के रूप मे अबाध गति मे आगे बढ़ती और पूंजीपतियों के लिए यह सारी कल-कारखानो का विकास लाभदायक न रह जाता।

पूंजीपति अपना बोझ मजदूरो के कन्धों पर खिसका कर लाभ की दर की गिरावट को धीमा कर देते हैं किन्तु उसे बिलकुल रोक नहीं पाते हैं। इसके साथ ही पूंजीवाद का बुनियादी अन्तर्विरोध—मजदूरो और पूंजीपतियों का अन्तर्विरोध और उग्र हो जाता है।

व्यापारिक लाभ

औद्योगिक पूंजीपतियो का लाभ तो आसानी से समझ मे आ जाता है लेकिन व्यापारिक पूंजी के लाभ का स्रोत क्या है, इसे जानने मे अधिक कठिनाई होती है। लेकिन व्यापारिक पूंजी पर प्राप्त होने वाला लाभ कोई पृथक वस्तु नहीं है। वास्तव में लाभ या अतिरिक्त मूल्य की उत्पत्ति उत्पादन की प्रक्रिया मे होती है। उत्पादन के साधनो का मालिक और औद्योगिक

पूंजीपति होता है। इसलिये वही सबसे पहले इस लाभ का भी अधिकारी होता है। औद्योगिक पूंजीपति लाभ की पूरी रकम को अकेले नहीं हड़प जाता है वरन् उसका एक अंश व्यापारी को भी देता है।

औद्योगिक पूंजीपति लाभ का बँटवारा व्यापारियों के साथ करने के लिए बाध्य होते हैं क्योंकि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में व्यापारियों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। पूंजीवादी व्यवस्था में वस्तुओं का उत्पादन बिक्री के लिए होता है। औद्योगिक पूंजीपति अपनी मुद्रा को वस्तुओं का रूप देता है और व्यापारिक पूंजीपति जब इन वस्तुओं को ले जाकर बेच देता है तो इन वस्तुओं को फिर से मुद्रा का रूप प्राप्त हो जाता है। यह मुद्रा फिर पूंजी की हैसियत से उत्पादन-क्रिया में भाग लेती है। यदि संचार की प्रक्रिया में औद्योगिक पूंजीपतियों को व्यापारियों की सहायता नहीं प्राप्त हो तो उन्हें स्वयं दुकानें आदि खोलने के लिए और पूंजी लगानी होगी। व्यापारियों की इस सहायता के बदले में ही औद्योगिक पूंजीपति कुल लाभ का एक अंश उन्हें देते हैं।

लाभ की दर की दृष्टि से औद्योगिक पूंजी और व्यापारिक पूंजी में अन्तर नहीं होता है। यदि व्यापारिक पूंजी के लाभ की दर कम हो जाय तो लोग व्यापार में पूंजी लगाने के लिए तैयार नहीं होंगे। इससे पूंजी के आवर्तन में बाधा पड़ेगी। इसलिए व्यापार और उद्योग के क्षेत्रों में पूंजी के लाभ की दर वही रहती है हालांकि औद्योगिक पूंजीपतियों को कुल मिला कर अधिक लाभ होता है क्योंकि उनकी पूंजी का परिमाण भी अधिक होता है।

संचार की प्रक्रिया में काफी खर्च भी लगता है। यह व्यय दो प्रकार का होता है। पहला व्यय वह है जो उत्पादन की प्रक्रिया से सम्बन्धित है, जैसे कि वस्तुओं को गोदामों में रखने का खर्च, रेल आदि से ढोकर ले जाने और उनकी पैकिंग आदि का व्यय। इससे वस्तुओं का मूल्य बढ़ता है। यह व्यय उत्पादन के व्यय के साथ जुड़ जाता है। इसीलिए हम देखते हैं कि

मजुर का कपड़ा दिल्ली में भी उन्ही दामों पर बिकता है। दूसरा व्यय वह है जिसे हम संचार का शुद्ध व्यय (नेट कास्ट आफ सर्कुलेशन) कहते हैं। इसमें दुकान का किराया, सेल्समैन की तनख्वाह, विज्ञापन आदि का खर्च शामिल है। पूंजीवादी प्रणाली में इस तरह के खर्च काफी अधिक होते हैं और उनके कारण कुल मिलाकर संचार का व्यय बढ़ जाता है और वस्तुओं के दाम भी बढ़ जाते हैं।

व्यापार दो तरह का होता है—थोक और फुटकर। थोक व्यापार में औद्योगिक पूंजीपति अपना माल व्यापारिक पूंजीपतियों के हाथ बेचते हैं और फुटकर व्यापार में व्यापारिक पूंजीपति इन्ही वस्तुओं को सीधे तौर पर उपभोक्ताओं के हाथ बेचते हैं।

व्यापार केवल अपने देश की सीमाओं के भीतर नहीं होता है वरन् अन्य देशों के साथ भी होता है। विभिन्न देशों के बीच व्यापार में जो लाभ होता है या अतिरिक्त रकम मिलती है उसे 'पावना" (बैलेंस आफ पेमेंट) कहते हैं। उदाहरण के लिए, भारत को व्यापार के फलस्वरूप जो रकम मिलने वाली थी उसे हम "पाउण्ड पावना" (स्टर्लिंग बैलेंस) कहते थे।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में दो शब्द आते हैं—आयात और निर्यात। आयात उस माल को कहते हैं जो बाहर से मंगाया जाता है और निर्यात में वह वस्तुयें शामिल रहती है जो किसी अन्य देश को भेजी जाती हैं। "पावने" की रकम इस पर निर्भर करती है कि किसी देश का निर्यात उसके आयात की तुलना में कितना अधिक है। जिन देशों का आयात अधिक होता है वे अन्य देशों के कर्जदार हो जाते है। बड़े-बड़े पूंजीवादी देश हमेशा अल्प विकसित देशों को कर्जदार बनाकर उन्हें अपने वश में रखने की कोशिश करते है।

उधार पूंजी और ब्याज

औद्योगिक पूंजीपतियों को कभी कभी अपना काम चलाने के लिए अतिरिक्त पूंजी की आवश्यकता पड़ती रहती है। उनका पूरा तैयार माल

एक साथ नहीं बिक जाता है। उसके बिकने में कुछ समय लगता है। इस बीच में उद्योगपति अपने कारखाने को बन्द नहीं करता है, उसे चालू रखता है। इसके लिए उसे मुद्रा चाहिए। इसी तरह से अनेक उद्योगों में कच्चा माल फसल पर ही पूरे साल के लिए खरीद लिया जाता है। यह कच्चा माल क्रमशः वस्तुओं में परिणत होता है और फिर उन वस्तुओं के बिकने पर ही उस कच्चे माल के दाम पूंजीपति के हाथ में वापस आते हैं। उदाहरण के लिए हम अपने देश के चीनी उद्योग को लें। चीनी मिलों की पैदावार ६ महीने में तैयार हो जाती है परन्तु उसके बिकने में पूरा साल लग जाता है। जब फसल का समय आता है और मिल चालू होते हैं तो उन्हें खास तौर से रुपये की जरूरत होती है। ऐसे मौकों पर काम चलाने के लिये मिल मालिक दूसरों से कर्ज लेते हैं।

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि औद्योगिक पूंजीपति हमेशा कर्ज लेते ही रहते हैं। ऐसा भी समय आता है जब उनके पास आवश्यकता से अधिक पूंजी आ जाती है, खास कर ऐसे समय जब उनकी वस्तुओं की बिक्री अधिक जोरों से होती है या अन्य खर्चे कम हो जाते हैं। उस समय उद्योगपति अपनी अतिरिक्त पूंजी को अन्य पूंजीपतियों को उधार देते भी हैं। पूंजीपतिवर्ग में पूंजी का यह लेन-देन बराबर चलता रहता है। एक निश्चित समय के लिए निश्चित लाभ की दृष्टि से जो पूंजी अन्य लोगों को दी जाती है उसे "उधार पूंजी" कहते हैं। उधार पूंजी के देने वाले को इस रकम के बदले में जो अतिरिक्त रकम प्राप्त होती है उसी को "ब्याज" कहते हैं।

ब्याज भी अतिरिक्त मूल्य का एक हिस्सा है जो औद्योगिक पूंजीपति के द्वारा महाजन को या उधार-पूंजी देने वाले को अदा किया जाता है। ब्याज की दर घटती बढ़ती रहती है। जब कभी उधार-पूंजी की मांग अधिक होती है तो ब्याज की दर बढ़ जाती है, मांग कम होने पर ब्याज की दर गिर जाती है। लेकिन ब्याज की दर कभी भी औसत लाभ की दर से अधिक

नहीं हो सकती है क्योंकि औसत लाभ की रकम से ही ब्याज का भुगतान किया जाता है।

बैंकों का काम

पूँजीवादी समाज में बैंक भी एक प्रकार के पूजीवादी प्रतिष्ठान होते हैं। बैंकों का काम उधार देने वालों और उधार लेने वालों के बीच मध्यवर्ती का कार्य होता है। बैंकों में न केवल पूँजीपति बल्कि समाज के सभी वर्गों के लोग रुपया जमा करते हैं। इस प्रकार बैंकों में जो धन जमा (डिपाजिट) होता है उसके बदले में बैंक जमा करने वालों को ब्याज अदा करता है। फिर बैंकों के स्वामी या बैंकर इस रुपये को दूसरों को (व्यापारियों या उद्योगपतियों को) काम के लिए उधार देते हैं और इस उधार पूजी के लिए ब्याज वसूल करते हैं। इस प्रकार बैंकों का एक काम है समाज की उस पूंजी को एकत्रित करना जो अस्थाई रूप में बेकार पडी होती है और उनका दूसरा काम है इस पूँजी को जरूरत मन्द पूजीपतियों के पास पहुँचाते रहना।

बैंक उधार पूँजी के लिए ब्याज की जो दर निश्चित करते हैं वह उस दर से अधिक होती है जिसके अनुसार जमा रकम या डिपाजिट के लिए ब्याज अदा करते हैं। बैंक जो कर्ज देते है उन्हें "बैंक-ऋण" कहा जाता है। बैंक ऋण के ब्याज और बैंक-जमा (डिपाजिट) के ब्याज के बीच का अन्तर ही बैंकरों की आय का स्रोत होता है।

बैंक केवल पूँजी जमा करने और उधार देने का ही काम नहीं करते हैं। वह स्वयं भी कारखानों में पूँजी लगाते हैं और लाभ कमाते हैं।

बैंकों के कारण पूँजीपति वर्ग को अनेक प्रकार से फायदा होता है। व्यक्तिगत रूप से किसी भी पूँजीपति की पूँजी बेकार नहीं पड़ी रहती है। वह उसे बैंक में जमा करके ब्याज हासिल कर लेता है। इसके अलावा बैंकों के कारण पूँजीपतियों को कर्ज आसानी से मिल जाता है। बिना किसी खास

दौड़-धूप के पूँजीपतियों को न सिर्फ अपने वर्ग की जमा की हुई रकम मिल जाती है वल्कि अन्य वर्गों के लोगों की जमा-रकम भी उसके हाथ लग जाती है। जन-साधारण को पता भी नहीं चलता कि उनके धन का उपयोग किस प्रकार पूँजीपति वर्ग के लाभ के लिए हो रहा है। इसके विपरीत लोग यही समझते हैं कि बैंक उन्हें जमा धन के बदले में ब्याज देकर कृतार्थ कर रहे हैं।

बैंक पूँजीपति वर्ग को ही नहीं पूंजीवादी सरकारों को भी कर्ज देते हैं और उनकी सेवा करते हैं।

ज्वाइण्ट स्टाक कम्पनी

जैसे जैसे पूँजीवाद का विकास होता गया उसी रफ्तार से बड़े-बड़े उद्योगों की वृद्धि होती गयी। ऐसे उद्योगों का जन्म हुआ जिनके चलाने के लिए बड़ी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता हुई। प्रारम्भ में रेलों, बन्दरगाहों आदि के लिए संयुक्त रूप से पूंजी इकट्ठा करने की आवश्यकता हुई और इसके लिए ज्वाइण्ट स्टाक कम्पनियां खोली गयी। आज तो अधिकांश पूंजीवादी प्रतिष्ठान ज्वाइण्ट स्टाक कम्पनी के रूप में चलते हैं।

किसी ज्वाइण्ट स्टाक कम्पनी में लगी हुई पूंजी उसके हिस्सों या शेयरों में बँटी होती है। प्रत्येक शेयर के निश्चित दाम होते हैं और कोई भी व्यक्ति जितने शेयर चाहे खरीद सकता है। कम्पनी का पूरा लाभ उसके हिस्सेदारों या शेयर होल्डरों में उनके शेयर के मूल्य के अनुपात से बांट दिया जाता है। किसी हिस्सेदार को उसके शेयर से जो लाभ होता है उसे लाभांश या डिवीडेण्ड कहते हैं।

हिस्सेदारों के पास उनके शेयर एक प्रकार के "अधिकार-पत्रों" (सेक्योरिटी) के रूप में रहते हैं। इस अधिकार-पत्र के द्वारा उन्हें कम्पनी के लाभ में अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस दृष्टि से बाजार में इन अधिकार-पत्रों की भी खरीद और बिक्री होने लगती है। हम अक्सर यह देखते हैं कि शेयरों के दाम घटते-बढ़ते रहते हैं। यह कैसे होता है?

जहाँ शेयरो की खरीद-बिक्री होती है उसे शेयर-बाजार या स्टाक-एक्सचेंज कहते हैं। शेयर-बाजार मे उन्ही कम्पनियो के शेयर अधिक दामो पर बिकते हैं जिनका लाभ अधिक होता है और जो अपने हिस्सेदारो को अधिक लाभांश देती हैं। शेयरो के दाम इस आधार पर निश्चित होते हैं कि किसी कम्पनी के लाभांश की दर क्या है और बैंकों से जमा-धन पर जो ब्याज मिलता है उसकी दर क्या है। यदि लाभांश की दर ब्याज की दर से अधिक है तो शेयर के दाम बढ़ जाते हैं। मान लीजिये कि कोई कम्पनी १०० रुपये के शेयर पर १० रुपये लाभांश अदा करता है और बैंक में १०० रुपये जमा करने पर केवल ५ रुपये मिलते हैं तो लोग उक्त कम्पनी के १०० रुपये के शेयर के लिए दो सौ रुपये तक देने के लिये तैयार हो जायेंगे।

कम्पनियों में हिस्सेदारो या शेयर होल्डरो की संख्या हजारो की होती है। लेकिन इससे यह सोच बैठना गलत होगा कि अब ज्वाइण्ट स्टाक कम्पनियों के स्थापित होने से पूँजीवाद का स्वरूप बदल गया है और वह "जनवादी" हो गया है। वास्तव में कम्पनियों के साधारण हिस्सेदारो को कोई पूछने वाला नहीं है। कम्पनियो के प्रबन्ध में उन्ही हिस्सेदारो की मनमानी चलती है जिनके पास अधिक सख्या मे या अधिक कीमत के शेयर होते हैं। किसी कम्पनी मे स्वेच्छ पूर्ण अधिकार प्राप्त करने के लिए जितने शेयर आवश्यक होते है उन्हे "नियन्त्रणकारी हित" (कन्ट्रोलिंग इन्टरेस्ट) कहते हैं। अनुभव बतलाता है कि ज्वाइण्ट स्टाक कम्पनी मे यदि किसी पूँजीपति के पास ४० प्रतिशत तक शेयर हुए तो भी वह शेष ६० प्रतिशत शेयरों के हजारो मालिकों की पूजी पर नियन्त्रण हासिल कर लेता है।

ज्वाइण्ट स्टाक कम्पनियो की व्यवस्थाएं भी पूजीपतियों को समाज के अन्य सदस्यों की सम्पत्ति का उपयोग अपने हितो में करने की स्वतंत्रता देती है। इससे पूंजी का अधिकार-क्षेत्र और कार्य-क्षेत्र बढ़ता है। बडे-बडे पूँजीपति अब अनेक कम्पनियो के शेयर खरीदकर उनमे अपना नियन्त्रणकारी हित स्थापित करते हैं और उनके वास्तविक मालिक बन जाते हैं। अन्य

[illegible] किसान के [illegible] होता है। यह पूँजीवादी व्यवस्था में [illegible] कर देता है।

पूँजीवादी व्यवस्था में [illegible] बड़े बड़े भूस्वामियों को [illegible] जमीन के मालिक होते हैं और [illegible] है।

पूँजीवादी लगान क्या है ?

[illegible] कृषि व्यवस्था और पूँजीवादी व्यवस्था [illegible] और यहाँ भी बड़े बड़े भूस्वामी लगान के [illegible] का एक हिस्सा प्राप्त करते हैं।

भूस्वामियों अथवा जमीन के मालिकों को लगान या जमीन का किराया क्यों मिलता है? ऊपरी तौर पर इसका जवाब यही है कि वे जमीन के मालिक होते हैं, इस लिए कोई भी व्यक्ति उनकी अनुमति के बिना भूमि का उपयोग नहीं कर सकता है और उनकी अनुमति प्राप्त करने के लिये लोग उन्हें लगान (या किराया) देते हैं।

लेकिन यह लगान आता कहाँ से है और कैसे तय किया जाता है? क्या जमीन अपने आप ही लगान पैदा करती है? नहीं। उत्पादन के अन्य साधनों की भांति जमीन भी स्वतः कोई मूल्य नहीं पैदा करती है। उसमें मूल्य का उत्पादन करने के लिये मानव-श्रम की आवश्यकता होती है। लगान उस मूल्य का एक भाग होता है जो लोग भूमि पर श्रम करके पैदा करते हैं और भूमि के स्वामी को देते हैं।

लगान की उत्पत्ति उसी समय से होती है जब कि जमीन पर व्यक्ति-गत स्वामित्व स्थापित होता है। जमीन को जोतने वाले किसान या भूदास उस समय भी लगान अदा करते थे जब सामन्तों का प्रभुत्व था और उस

समय भी लगान अदा करते हैं जब कि सामन्तवाद का स्थान पूंजीवाद ले लेता है। लेकिन पूंजीवादी लगान सामन्तवादी लगान से भिन्न होता है।

सामन्तवाद के अन्तर्गत लगान की अदायगी के तरीके हमेशा एक ही नहीं रहे हैं। उनमें भी परिवर्तन होता रहा है। इनमें से एक तरीका था श्रम के रूप में लगान अदा करने का जिसमें किसान को अपने मालिक सामन्त के यहाँ एक निश्चित समय तक काम करना पड़ता था। हमारे देश में भी मनुस्मृति जैसे ग्रंथ में इस तरह के अनिवार्य श्रम का जिक्र आया है और इसी प्रथा के अवशेष के रूप में हरी और बेगार की प्रथा थी, जो आज तक देखने में आ जाती है।

लगान की अदायगी का दूसरा तरीका था उत्पादन की वस्तु के रूप में लगान देने का। इसे जिन्सी लगान कहते हैं। खेत की पैदावार का एक भाग सामन्त को लगान के रूप में मिलता था। हमारे देश में भी यह प्रथा थी यद्यपि समय-समय पर यह भाग बदलता रहता था, कभी राजा को छठा भाग (षष्ठांश) मिलता था तो कभी एक-तिहाई मिलता रहा। वस्तु के रूप में लगान अदा करने वाला किसान उससे अधिक स्वतंत्रता अनुभव करता था जिसे श्रम के रूप में लगान देना पड़ता था। अब भी बंटाई पर खेत जोतने वाले किसान उत्पादन की वस्तु के रूप में लगान अदा करते हैं और जिसमें भूस्वामियों को पैदावार का आधा भाग तक मिल जाता है।

लगान की अदायगी का तीसरा तरीका था नकदी लगान या मुद्रा के रूप में लगान देने का। मुद्रा के रूप में लगान का प्रचलन काफी बाद में होता है फिर भी यह नहीं समझना चाहिये कि पूंजीवादी युग में ही नगदी लगान की प्रथा चालू हुई। सामन्तवाद के ही युग में लोग मुद्रा के रूप में लगान अदा करने लगे थे। भारत में नगदी लगान सम्राट अकबर के युग में भी चालू था यद्यपि ब्रिटिश शासन में ही उसकी प्रधानता पूरे देश के पैमाने पर स्थापित हुई। पूंजीवाद जब कृषि की व्यवस्था में लागू होता है तो अन्य

यदि कल किसी गाँव के पास कुछ कारखाने खुल जायें और वहाँ एक अच्छी जनसंख्या निवास करने लगे तो उसके लिए साग-सब्जी आदि की आवश्यकता बढ़ जायगी। इस दृष्टि से आस पास की जमीनो को लोग अधिक लगान पर लेने के लिये तैयार हो जायंगे। इस तरह से जमीन का मूल्य बढ़ जाता है और जमीन के मालिक या भूस्वामी लगान के रूप मे अपनी जमीन का मूल्य वसूल करते हैं।

अपेक्षाकृत अधिक उर्वर तथा अधिक सुविधापूर्ण भूमि के उपयोग से सामान्य भूमि की तुलना मे अतिरिक्त लाभ होता है उसी को विशिष्ट लगान कहते हैं। भूस्वामी वर्ग दावा करता है कि यह विशेष लाभ भूमि के विशेष गुणों के कारण हुआ है और चूकि वह भूमि का स्वामी है इसी लिये इस लाभ का भी अधिकारी है। जब कोई भूस्वामी अपनी जमीन का पट्टा लिखता है या उसे निश्चित समय के लिए लगान पर उठाता है तो पहले से अनुमान करता है कि मामूली जमीन के मुकाबिले उस जमीन से कितना अधिक लाभ होगा। वह इस अतिरिक्त लाभ को अपने लगान मे शामिल कर लेता है। समान रूप से पूजी और श्रम लगाने पर सुविधाजनक भूमि से अधिक उत्पादन होता है, उससे अधिक मूल्य प्राप्त होता है इसी लिये किसान विशिष्ट लगान को देना स्वीकार कर लेता है।

भूस्वामी से एक बार निश्चित काल के लिये लगान पर जमीन लेने के बाद भी किसान जमीन मे सुधार करते रहते हैं। इससे उन्हे और भी आय प्राप्त होती है किन्तु इस आय पर भूस्वामी का अधिकार नही होता है क्योंकि उसका लगान पहले से ही निश्चित होता है। हाँ, जब निश्चित समय के बाद दुबारा पट्टा बदलने का समय आता है तो भूस्वामी फिर से लगान को बढ़ाने की कोशिश करता है और किसान द्वारा किये गये सुधारो का फायदा स्वय उठाता है। सक्षेप मे विशिष्ट लगान वह विशिष्ट आय है जिसके निम्नलिखित तीन स्रोत है :—

(१) भूमि की उर्वरता (२) भूमि की स्थिति और (३) घनीभूत

खेती के तरीके। इनमें से पहले दोनों भागों में (भूमि की उर्वरता औ
भूमि की स्थिति से प्राप्त विशिष्ट लगान को प्रथम श्रेणी का विशि
लगान कहते हैं तथा गहनीभूत खेती से प्राप्त विशिष्ट लगान को द्वितीय श्रेण
का विशिष्ट लगान कहते हैं।

खेती में मूल्य का नियम

विशिष्ट लगान को समझने के लिये यह भी जान लेना चाहिये कि
कृषि के उत्पादन पर मूल्य का नियम किस तरह लागू होता है। कृषि-उत्पाद
पर मूल्य का नियम एक विशेष ढंग से लागू होता है। औद्योगिक उत्पादन
वस्तुओं के उत्पादन मूल्य पर उन उद्योगों का अधिक प्रभाव पड़ता है ज
यांत्रिक और प्राविधिक उन्नति के कारण कम लागत से अधिक मूल्य की
वस्तुयें तैयार करते हैं। इसके कारण वस्तुओं के बाजार दाम गिरते हैं औ
अन्य उद्योगपति अपने उत्पादन के साधनों को उन्नत बनाने के लिये बाध्य
होते हैं। किन्तु खेती में इसका उल्टा होता है। कृषि उत्पादन के दाम उन
फार्मों की लागत से प्रभावित होते हैं जिनके उत्पादन के साधन अधिक पिछड़े
होते हैं और जिनके उत्पादन में लागत-मूल्य अधिक होता है। यह फार्म
कृषि की उपज की कीमतों (दामों) को ऊँचा बनाये रखने में सहायक होते
हैं जिससे उन्नत साधनों वाले फार्मों की आय बढ़ जाती है और वे अधिका-
धिक बड़े पैमाने पर उन्नत साधनों का प्रयोग करते हैं।

नीचे की तालिका से हम इसे और अधिक स्पष्ट कर देना चाहते हैं।
इस तालिका में तीन प्रकार की भूमि ली गयी है। प्रथम श्रेणी की भूमि वह
है जिसे निकृष्ट भूमि कह सकते हैं, जिस पर पैदावार सबसे कम होती है;
द्वितीय श्रेणी की भूमि मध्यम या औसत प्रकार की भूमि है और तृतीय
श्रेणी में उत्तम प्रकार की भूमि है।

भूमि की श्रेणी	लागत पूंजी	औसत लाभ की दर	उत्पादन क्विण्टल	उत्पादन के दाम कुल उपज का
प्रथम	१००	२०	१०	१२०
द्वितीय	१००	२०	१५	१२०
तृतीय	१००	२०	२०	१२०

भूमि की श्रेणी	अलग-अलग उत्पादन के दाम	सामाजिक रूप में		विशिष्ट लगान
	प्रति क्विण्टल	प्रति क्विण्टल	कुल उत्पादन का	
प्रथम	१२ रु.	१२ रु	१२०	———
द्वितीय	८ रु.	१२ रु	१८०	+ ६०
तृतीय	६ रु.	१२ रु	२४०	+ १२०

यहाँ तीनों प्रकार की भूमि पर समान रूप से पूंजी लगाई गयी है लेकिन उनकी पैदावार में अन्तर है। यदि पूंजी पर औसत लाभ २० प्रतिशत मान लिया जाय तो प्रथम श्रेणी की भूमि के उत्पादन के दाम १२ रुपये प्रति क्विण्टल होंगे और दूसरी श्रेणी की भूमि की उपज का मूल्य ८ रुपये प्रति क्विण्टल होना चाहिये तथा तीसरी श्रेणी की भूमि के किसान को केवल ६ रु० प्रति क्विण्टल मिलने चाहिये। लेकिन सामाजिक रूप से ऐसा नहीं होता है। सामाजिक रूप से कृषि वस्तुओं के उत्पादन के दाम सबसे खराब जमीन के उत्पादन के दाम के द्वारा निर्धारित होते हैं अतएव सभी उत्पादकों को १२ रुपये प्रति क्विण्टल के दाम मिलेंगे। इसके फलस्वरूप द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के किसानों को अतिरिक्त लाभ होगा। द्वितीय श्रेणी के किसान को ६० रुपये अधिक मिलेंगे और तृतीय श्रेणी के किसान को १२० रुपये अधिक मिलेंगे। भूस्वामी इन किसानों से इस अतिरिक्त लाभ को विशिष्ट लगान के रूप में लेता है। निकृष्ट भूमि पर (प्रथम श्रेणी की) कोई विशिष्ट लगान नहीं देना पड़ेगा।

विशुद्ध लगान

अधिक उपजाऊ और सुविधापूर्ण भूमि के लिये भूस्वामी विशिष्ट

लगान का दावा पेश करते हैं लेकिन निकृष्ट भूमि को भी वह मुफ्त में खेती के लिये नहीं बाँट देते हैं। सबसे खराब भूमि को भी जब कोई भूस्वामी खेती के लिये देता है तो उसका लगान मांगता है। इन जमीनों पर भी जो लगान देना पड़ता है वह "विशुद्ध लगान" है।

विशुद्ध लगान किस प्रकार निर्धारित होता है? विशुद्ध लगान भूस्वामी को भूमि पर उसके अधिकार के फलस्वरूप दिया जाता है। इसकी उत्पत्ति भी खेत-मजदूर की श्रम-शक्ति से होती है। किन्तु विशुद्ध लगान को निश्चित करने का तरीका भिन्न है।

विशिष्ट लगान के सिलसिले में हम देख चुके हैं कि वह अच्छी भूमि के उपयोग के लिये दिया जाता है। इससे इन जमीनों के उपयोग में एकाधिकार प्राप्त होता है। लेकिन विशिष्ट लगान केवल भूस्वामियों के एकाधिकार का फल है। भूमि पर कुछ लोगों का एकाधिकार होने की वजह से कृषि में पूंजीपतियों का प्रवेश स्वच्छन्दता के साथ नहीं हो पाता है। फलतः खेती में लगी पूंजी का दैहिक अनुपात निम्न रहता है जिससे खेती में अतिरिक्त मूल्य अधिक बड़े परिमाण में प्राप्त होता है। इस तरह कृषि में लगी पूंजी तथा अन्य पूंजी के अतिरिक्त मूल्य में जो अन्तर होता है उसी को भूस्वामी किसान से विशुद्ध लगान (एब्सोल्यूट रेन्ट) की शकल में वसूल कर लेता है।

औद्योगिक पूंजी तथा कृषि में लगी पूंजी के इस अन्तर को निम्नलिखित तालिका में देखा जा सकता है।

	दैहिक अनुपति स.पू. + प.पू.	अ० मूल्य की दर	उत्पादन का मूल्य	दोनों का अन्तर या विशुद्ध लगान
औद्योगिक पूंजी	८०+२०	१००%	८०+२०+२० =१२०	——
खेती में लगी ,,	६०+४०	१००%	६०+४०+४० =१४०	१४०−१२०= २०

देखा जायगा कि कितने रुपये बैंक में जमा करने पर १०० रुपये प्रतिवर्ष मिल सकेंगे। इस हिसाब से उस खेत के दाम २००० रुपये होंगे।

कृषि में पूंजीवाद का प्रसार

पूंजीवादी लगान पर विचार करते समय मार्क्स के सामने ब्रिटेन की पूंजीवादी कृषि व्यवस्था का चित्र था। मार्क्स ने बताया कि भूस्वामियों को लगान के रूप में अतिरिक्त मूल्य का जो भाग मिलता है उसका उत्पादन को बढ़ाने की दृष्टि से कोई भी उपयोग नहीं हो पाता है। यह धन एक शोषक वर्ग के पालन-पोषण में व्यय होता है। भूस्वामी वर्ग भूमि के उपयोग में उसी तरह वाधक होता है जिस तरह किसी खजाने पर कुंडली मार कर बैठा हुआ नाग। भूस्वामियों के कारण कृषि व्यवस्था में पूंजी के प्रवेश में वाधा पड़ती है उन्नत यंत्रों तथा साधनों का उपयोग नहीं हो पाता है।

कृषि व्यवस्था में पूंजीवाद का प्रवेश कई ढंग से होता है। अब तक योरोप के देशों में दो प्रकार से पूंजीवादी कृषि व्यवस्था ने जन्म लिया है। एक तो वे देश हैं जहां पूंजीवादी क्रान्ति के फलस्वरूप सामन्तवादी भूस्वामियों की सम्पत्ति ज़ब्त कर ली गयी और जमीन किसानों के हाथ बेच दी गयी। फ्रांस में ऐसा हुआ। सयुक्त राज्य अमेरिका में भी इसी प्रकार तेजी के साथ पूंजीवादी कृषि व्यवस्था का विकास हुआ। सामन्तवादी वर्ग के हाथ से जमीन लेकर उसे किसानों को देने के इस तरीके को मार्क्सवादी साहित्य में पूंजीवादी कृषि के विकास का **अमरीकी तरीका** कहते हैं। दूसरा तरीका **जर्मन तरीका** कहलाता है। इसमें पूंजीवादी सरकार सामन्तों के हाथ से भूमि नहीं छीनती और भूमि को किसानों के हाथ में नहीं दिया जाता बल्कि सामन्तवादी भूस्वामियों को ही पूंजीवादी किसानों के रूप में विकसित होने दिया जाता है। जर्मनी में इसी ढंग से खेती में पूंजीवाद का विकास हुआ। जर्मनी में जिन सामन्तवादी भूस्वामियों ने पूंजीवादी फार्मरों का रूप धारण किया उन्हें "जुंकर फार्मर" कहते थे।

फिर गांव में ही बड़े भूस्वामियों के खेतों पर काम करते हैं। खेत मजदूरों की दशा भारत के मजदूर की तुलना में खराब होती है। उनका शोषण और भी अधिक भद्दे तरीके से होता है।

जिन देशों में सामन्तवादी भूस्वामियों को खतम करके पूंजीवादी खेती लागू की जाती है वहां भी बड़ी तादाद में बड़े बड़े भूस्वामियों का निर्माण हो जाता है। यह पूंजीवादी भूस्वामी लगान पर जमीन किसानों को देते हैं अथवा खेत मजदूरों से काम लेकर कृषि-उत्पादन करते हैं।

भूमि पर भूस्वामियों का अधिकार खेती में नये नये यंत्रों तथा वैज्ञानिक प्रणाली के प्रसार में बाधक होता है। कृषि में पूंजी लगाने के लिये भूस्वामियों की अनुमति आवश्यक होती है और पूंजी लगाने के बाद भी यह किसान पूरा लाभ नहीं उठा पाते हैं क्योंकि उन्हें लगान के रूप में अतिरिक्त मूल्य का बंटवारा करना पड़ता है। विशुद्ध लगान का सम्बन्ध भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व से है और व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त करके ही विशुद्ध लगान को खतम किया जा सकता है।

छोटे छोटे कृषकों का उन्मूलन कई कारणों से होता है। उनके खेतों में अच्छी मशीनों और खाद आदि का उपयोग नहीं हो पाता है जिससे उनकी पैदावार कम होती है। पूंजीवादी सरकारें कृषकों को सहायता के रूप में जो धन-राशि देती है उसका इस्तेमाल बड़े बड़े फार्मर ही कर पाते हैं। बाजार में भावों का उतार-चढ़ाव भी छोटे किसानों को चौपट करता रहता है। छोटे उत्पादकों की दुर्दशा और उनका उन्मूलन पूंजीवादी विकास का एक नियम है और कृषि व्यवस्था भी इसका अपवाद नहीं है।

पूंजीवादी कृषि व्यवस्था की एक विशेषता और भी है। यद्यपि खेतों में उत्पादन के आधुनिक तरीकों का प्रसार होता है और उत्पादन में वृद्धि होती है फिर भी कृषि-जन्य वस्तुओं के दाम क्रमशः ऊंचे होते जाते हैं। जन-साधारण को सस्ते दामों पर अनाज नहीं मिल पाता है। कृषि में व्यक्तिगत स्वामित्व का यह एक परिणाम है।

पूँजीवादी कृषि व्यवस्था में एक ओर तो गाँव के भीतर खेत मजदूरों और किसानों के बीच अन्तर्विरोध रहता है, उनके हित आपस में टकराते हैं, दूसरी ओर गाँव और शहर के बीच अन्तर्विरोध रहता है। गाँवों का पिछड़ापन कायम रहता है और वे शहरों पर पूरी तरह निर्भर रहते हैं, जहाँ पूंजी का गढ़ होता है।

पूँजीवाद के अन्तर्गत होने वाली किसानों की कंगाली, खेत-मजदूरों की बेकारी, गाँवों का पिछड़ापन और पूँजीपतियों द्वारा किसानों का शोषण—इन्हीं सब बातों की वजह से पूँजीवादी किसान भी इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि समाज की उन्नति के लिए पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का अन्त करना अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

○ ○

सातवां अध्याय | पूंजीवादी पुनरोत्पादन और आर्थिक संकट

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत रूप से पूंजीपति अपने उद्योगों या प्रतिष्ठानों के स्वामी होते हैं। वे अपने निजी लाभ की दृष्टि से उत्पादन करते हैं और इसके फलस्वरूप पूंजीवादी उत्पादन में अराजकता स्वाभाविक रूप से वर्तमान रहती है। फिर भी यह सब निजी उद्योग-धन्धे और प्रतिष्ठान एक दूसरे से बिलकुल असम्बन्धित तथा स्वतंत्र नहीं होते हैं। वह सामाजिक रूप में एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं और परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था को अच्छी तरह समझने के लिए पूंजी के निजी तथा सामाजिक स्वरूपों को एक साथ मिलाकर समझना होगा। समाज के विभिन्न निजी उद्योगों में जो निजी पूंजी लगी रहती है उसी के योग को **सामाजिक पूंजी** कहते हैं। इसी तरह से किसी निश्चित समय में समाज के विभिन्न उद्योगों में या कृषि में जो अलग-अलग पैदावार होती है उसे "**कुल सामाजिक उत्पादन**" (ग्रांस सोशल प्रोडक्शन) की संज्ञा प्रदान की जाती है। यह समय आम तौर से एक वर्ष का रखा जाता है और जब किसी देश के कुल सामाजिक उत्पादन के आंकड़े पेश किये जाते हैं तो उनमें एक वर्ष के कुल उत्पादन का मूल्य दिया जाता है।

सामाजिक उत्पादन में दो प्रकार की वस्तुयें शामिल हैं-(१) उत्पादन के साधन, (२) उपभोक्ता वस्तुयें। उत्पादन के साधनों के अन्तर्गत वह

मूल्य पूंजीपति को उपलब्ध होता रहे। वस्तुओं के मूल्य की उपलब्धि का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्यों कि इसके बिना पुनरोत्पादन चल नहीं सकता है।

वस्तुओं का मूल्य मुद्रा के रूप में पूंजीपति को मिलता है और इस मुद्रा को वह पुनः पूंजी के रूप में लगा देता है, इससे उत्पादन के साधन और श्रम-शक्ति खरीदता है तथा नये सिरे से वस्तु का उत्पादन करता है। इस प्रकार वस्तुओं के मूल्य तथा स्वरूप की उपलब्धि बारम्बार होती रहती है। इसे वस्तुओं की उपलब्धि (रियलाइजेशन आफ कमोडिटीज) कहते हैं।

समय समय पर पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में जो भूकम्प आते रहते हैं उनका सम्बन्ध वस्तुओं की उपलब्धि से ही होता है। उत्पादन के किसी क्षेत्र में वस्तुओं की मूल्य उपलब्धि न होने से उस क्षेत्र में गड़बड़ पैदा हो जाती है और उसका कुप्रभाव अन्य क्षेत्रों पर भी पड़ता है। पूंजीवादी सामाजिक उत्पादन का यह एक महत्वपूर्ण पहलू है।

साधारण पुनरोत्पादन

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पुनरोत्पादन दो प्रकार का होता है—साधारण पुनरोत्पादन तथा परिवर्द्धित या विस्तारित पुनरोत्पादन। साधारण पुनरोत्पादन में एक ही पैमाने पर उत्पादन जारी रहता है। उत्पादन में लगी हुई पूंजी में अन्तर नहीं होता है और अतिरिक्त मूल्य की रकम को पूंजीपति अपने निजी खर्च के लिये इस्तेमाल करता है, उसे उत्पादन बढ़ाने के लिये नहीं लगाता है। अब हम देखेंगे कि साधारण पुनरोत्पादन में वस्तुओं की किस प्रकार उपलब्धि होती है तथा उत्पादन की प्रक्रिया कैसे चलती है।

सुविधा के लिए हम मान लेते हैं कि किसी समाज में कुल सामाजिक उत्पादन निम्नलिखित प्रकार से होता है :—

(करोड रुपयो मे)

विभाग	सतत पूंजी	परिवर्तनशील पूंजी	अतिरिक्त मूल्य	कुल उत्पादन
प्रथम विभाग	८०००	२०००	२०००	१२०००
द्वितीय विभाग	४०००	०००	१०००	६०००

यहाँ प्रथम विभाग मे ८ ०० करोड सतत पूजी लगी है और परिवर्तनशील पूंजी २००० करोड़ रुपये है जिससे २० ० करोड रुपये का अतिरिक्त मूल्य पैदा होता है। कुल उत्पादन का मूल्य १२००० करोड रुपये है। जब यह मूल्य प्रथम विभाग के पूंजीपतियों को उपलब्ध होता है तो वह उससे ८००० करोड़ रुपये की सतत पूंजी को फिर से पूरा करते है और २००० करोड़ रुपये मजदूरी में लगाते हैं तथा शेष २००० करोड अपने काम मे लगाते हैं। इस प्रकार प्रथम विभाग मे कुल मिला कर ४००० करोड रुपये द्वितीय विभाग में चले आते हैं जहाँ से मजदूर और पूंजीपति उपभोक्ता वस्तुयें खरीदते हैं तथा ८००० करोड रुपये उसी विभाग के पूजीपतियो के पास उत्पादन के साधनों को नये सिरे से खरीदने के लिये रह जाते हैं।

द्वितीय विभाग मे सतत पूंजी ४००० करोड रुपये और परिवर्तनशील पूंजी १००० करोड रुपये हैं। अतिरिक्त मूल्य १००० करोड़ रुपये है। कुल उत्पादन ६००० करोड़ रुपये का है। इस विभाग के मालिक उत्पादन का मूल्य उपलब्ध करके उससे ४००० करोड़ रुपये के उत्पादन के साधन प्रथम विभाग से खरीदते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रथम विभाग से जो ४००० करोड रुपये उन्हें प्राप्त हुये थे वह प्रथम विभाग के पास वापस चले गये। शेष २००० करोड रुपये के उत्पादन में से १००० करोड मजदूरो को मिलता है जिन्हें उपभोक्ता वस्तुयें चाहिये। यह रुपया इसी विभाग के अंदर रह जाता है। उसी प्रकार शेष १००० करोड़ रुपये पूंजीपतियो के निजी खर्च में उपभोक्ता वस्तुओं के रूप मे आते हैं।

उपर्युक्त उदाहरण से दोनों विभागो के बीच का आदान-प्रदान स्पष्ट

हो जाता है। यदि किसी विभाग को वस्तुओं की उपलब्धि न हो सके तो उससे दूसरे विभाग को मिलने वाली रकम भी कम हो जायगी। परिणाम स्वरूप पूंजीपति या तो अपने निजी खर्च में कमी करेंगे या फिर मजदूरों के वेतन में कमी करके इस रकम को पूरा करेंगे। इससे उत्पादन के साधनों पर व्यय होने वाली पूंजी भी कम हो जायगी और अन्ततः पूरा सामाजिक उत्पादन कम हो जायगा।

साधारण पुनरोत्पादन की विशेष शर्त है कि उसमें प्रथम विभाग की परिवर्तनशील पूंजी और अतिरिक्त मूल्य के योग के बराबर ही द्वितीय विभाग की सतत पूंजी होनी है। संक्षेप में साधारण पुनरोत्पादन में द्वितीय विभाग की सतत पूंजी = प्रथम विभाग की परिवर्तनशील पूंजी + अतिरिक्त मूल्य। परिवर्द्धित पुनरोत्पादन में स्थिति इससे भिन्न होती है।

परिवर्द्धित पुनरोत्पादन

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था साधारण पुनरोत्पादन के आधार पर नहीं चल सकती है। उसका आधार परिवर्द्धित (विस्तारित) पुनरोत्पादन है।

परिवर्द्धित पुनरोत्पादन की विशेषता यह है कि इसमें अतिरिक्त मूल्य की पूरी रकम को पूंजीपति अपने व्यक्तिगत खर्च में नहीं लाते हैं बल्कि उसके एक भाग को उत्पादन-वृद्धि के लिये सतत पूंजी और परिवर्तनशील पूंजी के रूप में लगा देते हैं। इसीलिए पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में मशीनों और कारखानों का आकार बढ़ता जाता है। दिन प्रतिदिन अधिक बड़े पैमाने पर उद्योगों की स्थापना होती है।

नीचे हम परिवर्द्धित पुनरोत्पादन और उसके अन्तर्गत वस्तुओं की उपलब्धि का एक उदाहरण दे रहे हैं। इस उदाहरण में प्रथम विभाग के पूंजीपति प्रतिवर्ष अपने अतिरिक्त मूल्य का आधा भाग उद्योग में लगा देते हैं। मान लीजिये कि चालू वर्ष में दोनों विभागों की स्थिति इस प्रकार है:—

यहाँ से उत्पादन की प्रक्रिया नए सिरे से चालू होगी। अब दोनों विभागों के पूंजीपति अतिरिक्त मूल्य की रकम का एक भाग उत्पादन में पूंजी के तौर पर लगा देंगे। परिवर्द्धित पुनरोत्पादन में इसी तरह पूंजी का आधार बढ़ता जाता है।

साधारण पुनरोत्पादन का विश्लेषण करते समय हम देख चुके हैं कि द्वितीय विभाग की सतत पूंजी को प्रथम विभाग की परिवर्तनशील पूंजी तथा अतिरिक्त मूल्य के योग के बराबर होना चाहिए तभी दोनों विभागों में वस्तुओं की उपलब्धि ठीक तरह से हो सकती है। परिवर्द्धित पुनरोत्पादन के अन्तर्गत वस्तुओं की उपलब्धि के लिए आवश्यक है कि द्वितीय विभाग की सतत पूंजी उस मूल्य के बराबर हो जो प्रथम विभाग के पूंजीपति परिवर्तनशील पूंजी के रूप में लगाते हैं तथा अतिरिक्त मूल्य की जो रकम प्रथम विभाग के पूंजीपतियों के पास अपने निजी उपयोग के लिये शेष रहती है। यहाँ प्रथम विभाग के अतिरिक्त मूल्य का एक अंश ही द्वितीय विभाग के उत्पादन के साधनों (सतत पूंजी) में शामिल होता है। उसका दूसरा अंश प्रथम विभाग में ही पूंजी के रूप में लगा दिया जाता है।

परिवर्द्धित पुनरोत्पादन में उत्पादन के साधनों में लगातार वृद्धि होती जाती है। प्रथम विभाग, जहाँ लोहा, कोयला, पेट्रोल, बिजली आदि की पैदावार होती है, द्वितीय विभाग की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्र गति से प्रगति करता है।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में परिवर्द्धित पुनरोत्पादन की यह प्रक्रिया सुचारु रूप से नहीं चल पाती है और बीच-बीच में उसमें उथल-पुथल हुआ करती है। पूंजीवाद में उत्पादन के साधनों पर पूंजीपतियों का निजी स्वामित्व होता है। प्रत्येक पूंजीपति अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने के लिये मनमाने ढंग से उत्पादन करता है जिससे वस्तुओं की पूर्ति का सही अनुपात कायम नहीं रहता। पूंजीपतियों में आपसी प्रतियोगिता भी चलती है। मज़दूरों का शोषण करके वह लोग उनकी क्रय-शक्ति को कम कर देते

राष्ट्रीय आय का बंटवारा सबसे पहले मजदूरों और औद्योगिक पूंजी-पतियों या उद्योगपतियों के बीच होता है। इसके बाद उद्योगपतियों के हिस्से की राष्ट्रीय आय का बंटवारा ब्याज, लगान आदि के रूप में अन्य पूंजीपतियों के साथ होता है। इसी आय का एक भाग उद्योगपति फिर से उत्पादन में पूंजी की भांति लगाता है ताकि परिवर्द्धित पुनरोत्पादन हो सके।

राष्ट्रीय आय को वही लोग पैदा करते हैं जो सीधे तौर पर भौतिक वस्तुओं के उत्पादन में काम करते हैं। मजदूरों, किसानों, कारीगरों तथा उत्पादन में काम करने वाले बुद्धिजीवियों के श्रम से राष्ट्रीय आय का उत्पादन होता है लेकिन उसका एक बड़ा अंश पूंजीपतियों के हाथ में चला जाता है। पूंजीपतियों की आय का इस्तेमाल पूरी तरह उत्पादन वृद्धि के लिए भी नहीं हो पाता है क्योंकि काफी बड़ी रकम वे अपने ऐश-आराम में ही खर्च करते हैं।

वास्तविक उत्पादकों मजदूरों, किसानों आदि के हिस्से में जो राष्ट्रीय आय पड़ती है उसका भी एक अच्छा खासा हिस्सा टैक्सों के रूप में सरकार वसूल कर लेती है। सरकार पूंजीपतियों से भी टैक्स लेती है लेकिन पूंजी-वादी सरकार से पूंजीपति वर्ग को लाभ होता है जबकि मेहनतकश जनता के लिये सरकार मुख्यतः दमन के अस्त्र के रूप में काम करती है। एक और ...त यह है कि पूंजीवाद में सरकारों का खर्च लगातार बढ़ता जाता ... फौज और नौकरशाही पर जो व्यय होता है उसे ...क्योंकि इससे राष्ट्रीय आय को बढ़ाने में ...र्ग और उनकी सरकारों के ...संख्या के बहुमत की) क्रय-...लये वस्तुओं को खरीद नहीं ...स्तुओं का ढेर लग जाता है ...ौर उत्पादन प्रक्रिया का आगे ...ह एक मूल कारण है।

मार्क्सवादी अर्थशास्त्र

राष्ट्रीय आय का बँटवारा सबसे पहले मजदूरों और औद्योगिक पूंजीपतियों या उद्योगपतियों के बीच होता है। इसके बाद उद्योगपतियों के हिस्से की राष्ट्रीय आय का बँटवारा ब्याज, लगान आदि के रूप में अन्य पूजीपतियों के साथ होता है। इसी आय का एक भाग उद्योगपति फिर से उत्पादन में पूंजी की भांति लगाता है ताकि परिवर्द्धित पुनरोत्पादन हो सके।

राष्ट्रीय आय को वही लोग पैदा करते हैं जो सीधे तौर पर भौतिक वस्तुओं के उत्पादन में काम करते हैं। मजदूरों, किसानों, कारीगरों तथा उत्पादन में काम करने वाले बुद्धिजीवियों के श्रम से राष्ट्रीय आय का उत्पादन होता है लेकिन उसका एक बड़ा अंश पूंजीपतियों के हाथ में चला जाता है। पूंजीपतियों की आय का इस्तेमाल पूरी तरह उत्पादन वृद्धि के लिए भी नहीं हो पाता है क्योंकि काफी बड़ी रकम वे अपने ऐश-आराम में ही खर्च करते हैं।

वास्तविक उत्पादकों मजदूरों, किसानों आदि के हिस्से में जो राष्ट्रीय आय पड़ती है उसका भी एक अच्छा खासा हिस्सा टैक्सों के रूप में सरकार वसूल कर लेती है। सरकार पूंजीपतियों से भी टैक्स लेती है लेकिन पूंजीवादी सरकार से पूंजीपति वर्ग को लाभ होता है जबकि मेहनतकश जनता के लिये सरकार मुख्यतः दमन के अस्त्र के रूप में काम करती है। एक और खास बात यह है कि पूंजीवाद में सरकारों का खर्च लगातार बढ़ता जाता है। उनकी पुलिस, फौज और नौकरशाही पर जो व्यय होता है उसे "अनुत्पादक व्यय" कहना चाहिए, क्योंकि इससे राष्ट्रीय आय को बढ़ाने में जरा भी मदद नहीं मिलती है। पूंजीपति वर्ग और उनकी सरकारों के शोषण की वजह से श्रमिकों की (अर्थात जनसंख्या के बहुमत की) क्रय शक्ति घटती है। वे अपनी आवश्यकता के लिये वस्तुओं को खरीद नहीं सकते। इससे बाजार में बिना बिकी हुई वस्तुओं का ढेर लग जाता है। वस्तुओं की उपलब्धि में बाधा पड़ती है और उत्पादन प्रक्रिया का आगे बढ़ना रुक जाता है। पूंजीवादी संकट का यह एक मूल कारण है।

कोरिया के युद्ध के बाद भी आर्थिक संकट आया। उसका प्रभाव हमारे देश पर भी पड़ा था।

आर्थिक संकट के दौर में पूँजीवाद के अन्तर्विरोध साफ तौर से उभर कर सामने आ जाते हैं। जब पूंजीपति उत्पादन के साधनों को नष्ट करते हैं, वस्तुओं को बर्बाद करते हैं और उद्योगों को बन्द करते हैं तो उससे स्पष्ट हो जाता है कि पूँजीवाद में उत्पोदन की जिन विशाल शक्तियों का विकास हुआ था वह पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के ढाँचे को पार कर गई है अब इस ढाँचे के अन्तर्गत उत्पादन की शक्तियों का विकास नहीं हो सकता है। संकट का बोझ मजदूर वर्ग को सबसे बढ़कर उठाना पड़ता है। बेका बढ़ती है और मजदूरों की दुर्दशा का लाभ उठाकर पूँजीपति उनकी उ सुविधाओं को भी वापस लेने का प्रयास करते हैं जिन्हें श्रमिक वर्ग ने व के संघर्ष के फलस्वरूप प्राप्त किया था।

कृषि का क्षेत्र भी आर्थिक संकटों की मार से अछूता नहीं बचता है औद्योगिक क्षेत्र की भाँति यहाँ भी "अत्योत्पादन" का संकट आता रह है। इसके फलस्वरूप छोटे उत्पादकों और खेत मजदूरों की हालत बदत हो जाती है।

आर्थिक संकटों में केवल श्रमिक वर्ग बर्बादी का शिकार नहीं होता वरन् अनेक पूँजीपति भी अपना सब कुछ खो बैठते हैं। संकटों के फलस्वरू पूंजीपतियों का केवल एक भाग फायदा उठाता है जिसके हाथ में उत्पाद के साधन केन्द्रित होते जाते हैं। यह एकाधिकारी पूँजीपतियों (इजारेदारों) का वर्ग है।

आगे चलकर हम एकाधिकारी पूँजीवाद पर विचार करेंगे।

बनाकर किन्हीं उद्योगों पर हावी हो जाते हैं या उन उद्योगों के अधिकांश उत्पादन पर अधिकार कर लेते हैं। एकाधिकारी पूंजी के बहुत से रूप होते हैं। आज सभी उन्नत पूंजीवादी देशों में एकाधिकारी पूंजीपति मौजूद हैं और कुल मिलाकर पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था पर उन्हीं का आधिपत्य है।

एकाधिकारी पूंजी के संगठन

एकाधिकारी पूंजी के संगठन कई प्रकार के होते हैं। इनमें से एक संगठन कार्टेल के रूप में होता है। कार्टेल के सदस्य अपना उत्पादन अलग अलग करते हैं लेकिन आपस में समझौते से तय कर लेते हैं कि वह वस्तुओं को किन दामों पर और कौन-कौन से बाजारों में बेचेंगे। कार्टेल के भीतर बाजार का बँटवारा हो जाता है।

कार्टेल से आगे बढ़ा हुआ संगठन का स्वरूप सिण्डिकेट कहलाता है। सिण्डिकेट के सदस्य केवल अपनी वस्तुओं के भाव और बाजार ही नहीं तय करते हैं बल्कि एक ही दाम पर कच्चा माल खरीदते हैं और उनके उत्पादन की वस्तुओं की बिक्री भी सिण्डिकेट के द्वारा होती है। हमारे देश में भी पहले चीनी मिल मालिकों का सिण्डिकेट था जो बाद में टूट गया। अब उसका स्वरूप तथा नाम दूसरा है।

सिण्डिकेट से भी अधिक आगे बढ़ा हुआ और मजबूत संगठन ट्रस्ट कहलाता है। ट्रस्ट में किसी उद्योग के पूंजीपति अपनी पूंजी को एक में मिला देते हैं। उसके कारोबार का स्वामित्व ट्रस्ट के हाथ में चला जाता है और वह स्वयं उसके हिस्सेदार हो जाते हैं। एकाधिकारी पूंजी के संगठन का यह स्वरूप संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और ब्रिटेन में खास तौर से अधिक विकसित है।

ट्रस्ट से भी आगे बढ़ा हुआ संगठन कन्सर्न कहलाता है जिसमें एक ही उद्योग के नहीं बल्कि विभिन्न प्रकार के उद्योगों और बैंकों, बीमा कम्पनियों

लाभ प्राप्त करना। अपने मुनाफे की रकमों को बढ़ाने के लिए एकाधिकारी पूंजीपति किसानों को भी लूटते हैं। वह किसानों के हाथ अधिक दामों में औद्योगिक वस्तुयें बेचते हैं और उनसे सस्ते दामों पर कृषि जन्य वस्तुयें खरीदते हैं। जब किसानों की गरीबी बढ़ती है और वह अपनी जमीनें बेचने के लिए तैयार हो जाते है तो एकाधिकारी पूंजीपति इन जमीनों को हथिय लेते हैं।

लेनिन ने बतलाया कि पूंजीवाद जब एकाधिकारी पूंजीवाद की अवस्थ में पहुंच जाता है तो वह साम्राज्यवाद का रूप ग्रहण कर लेता है। लेनि ने साम्राज्यवाद की निम्नलिखित विशेषताओं का वर्णन किया है :—

"१—उत्पादन और पूंजी का केन्द्रीकरण विकसित होकर ऐसी ऊँच मंजिल पर पहुंच गया कि उसने एकाधिकारी पूंजीपतियों (इजारेदारियों) को जन्म दिया जो आर्थिक जीवन में एक निर्णायक भूमिका अदा करते हैं

२—औद्योगिक पूंजी के साथ बैंक पूंजी का विलयन और इस "महाजनी पूंजी" (फाइनेन्स कैपिटल) के आधार पर एक महाजनों के गुट की प्रधानता या महाजनी (फाइनेन्शियल ओलिगर्की) का जन्म।

३—पूंजी का निर्यात, जो कि वस्तुओं के निर्यात से भिन्न होता है, अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया है।

४—पूंजीपतियों के अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकारी संगठनों का निर्माण, जो आपस में विश्व का बँटवारा कर लेते हैं।

५—सबसे बड़ी पूंजीवादी शक्तियों के बीच सम्पूर्ण विश्व का क्षेत्रीय विभाजन पूर्ण रूप से हो जाता है।

"साम्राज्यवाद पूंजीवाद के विकास की वह अवस्था है जिसमें एकाधिकारियों (इजारेदारियों) और महाजनी पूंजी की प्रधानता स्थापित हो जाती है; जिसमें पूंजी का निर्यात स्पष्ट रूप से महत्वपूर्ण हो जाता है; जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्टों के बीच विश्व का बँटवारा आरम्भ हो जाता है;

नियंत्रण स्थापित कर लेते हैं, फिर इन छोटे उद्योगों के जरिए वह अन्य उद्योगों के भी शेयर खरीदते हैं जो उनसे भी छोटे होते हैं। इस प्रकार उद्योगों की एक पूरी शृंखला बन जाती है जिस पर बड़े उद्योगपतियों का अधिकार होता है।

बैंकों के साथ औद्योगिक पूंजी का सम्मिश्रण और विलयन आज के पूंजीवादी संसार में एक मामूली सी बात हो गयी है। अमेरिका जैसे बड़े पूंजीवादी देश में महाजनी पूंजी ने इतना अधिक विकास कर लिया है कि महाजनी पूंजी के कुल ८ समूहों ने पूरी अर्थ व्यवस्था पर नियंत्रण स्थापित कर लिया है इन आठ बड़े महाजनी पूंजी के समूहों में हैं—मार्गन, राकफेलर, ड्पाण्ट, मेलन, बैंक आफ अमेरिका, शिकागो बैंक, क्लीवलैण्ड बैंक और दि फर्स्ट नैशनल सिटी बैंक। इसी तरह ब्रिटेन में भी कुछ पूंजीपतियों के हाथ में राष्ट्र की आर्थिक बागडोर है। ब्रिटेन के ऐसे एकाधिकारी फर्मों में इम्पीरियल केमिकल इण्डस्ट्रीज का नाम आता है। महाजनी पूंजी का विकास भारत में काफी हो चुका है। हमारे देश के मुख्य पूंजीपतियों में टाटा, बिडला, डालमिया, सिंहानिया आदि के नाम हैं। इन लोगों का औद्योगिक क्षेत्र के साथ साथ बैंकों पर भी नियंत्रण है।

महाजनी पूंजी का राज्य केवल आर्थिक क्षेत्र में नहीं सीमित रहता है। महाजनशाही पूंजीवादी राजनीतिज्ञों और सरकारों को भी अपने इशारे पर नचाती है। पूंजीवादी सरकारें महाजनी पूंजी के हित में कानून बनाती हैं, महाजनी पूंजी के विस्तार में मदद देती हैं और देश के भीतर तथा देश के बाहर महाजनी पूंजी के आधिपत्य को फैलाने में सहायक होती हैं।

पूंजी का निर्यात

एकाधिकारी पूंजी के विकास का तीसरा कदम होता है—पूंजी का निर्यात अब आगे बढ़े हुए पूंजीवादी देशों के एकाधिकारी पूंजीपति अपने देश से केवल वस्तुओं का निर्यात नहीं करते हैं बल्कि अपनी पूंजी अन्य देशों में लगाते हैं।

संसार के सभी देशो मे पूजीवाद का विकास साथ ही साथ और समान गति मे नहीं होता है। कुछ देश पूजीवादी विकास मे आगे निकल जाते हैं और कुछ पीछे रह जाते हैं। लेकिन पूजी का निर्यात सिर्फ पिछडे हुए देशों को नही होता है। अधिक बडे पूजीवादी देशो मे अपेक्षाकृत उन्नत पूजीवादी देशो में भी पूजी निर्यात की जाती है। आज संयुक्त राज्य अमेरिका पूजी का निर्यात करने वाला सबसे बडा देश है और वहा के पूजीपति जापान मे भी अपनी पूजी भेजते हैं। जापान भारत की अपेक्षा अधिक उन्नत पूजीवादी देश है लेकिन वहा भी अमरीकी एकाधिकारी पूजी का निर्यात होता है।

पूजी का निर्यात दो तरह से होता है। इनमे से एक तरीका है "ऋण" के रूप मे पूजी भेजने का। अमरीका, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी तथा फ्रांस जैसे देशों के पूजीवादी महाजन अक्सर यह कहते सुने जाते हैं कि वे पिछडे हुए देशों को ऋण दे रहे हैं या "सहायता" दे रहे हैं। यह ऋण व्यक्तिगत रूप मे पूजीपतियो को दिया जाता है और सरकारो को भी दिया जाता है। ऋण लेने वाले पूजीपति और सरकारें इस ऋण के बदले में विदेशी पूजी पतियों को हर साल ब्याज देते रहते है। ऋण की शर्तों मे यह भी निश्चित हो जाता है कि इस ऋण से जो उद्योग उस देश मे खुलेंगे और उनसे जो लाभ होगा उसका एक निश्चित भाग ऋण देने वाले पूजीपतियों को मिलता रहेगा। स्पष्ट है कि पूजी के निर्यात का उद्देश्य ऋण देने वालो की सहायता करना नहीं वरन् मुनाफा कमाना होता है।

पूजी का निर्यात "उत्पादक पूजी" के रूप मे भी किया जाता है। उन्नत पूजीवादी देशो के धनीपति अपने देश मे कम्पनियाँ बनाते हैं जिनका उद्देश्य अन्य देशों मे उद्योगो को खोलना होता है। प्रायः हम देखते हैं कि अमरीका और ब्रिटेन की कम्पनियाँ अन्य देशो मे काम कर रही हैं। अमरीका की स्टैंडर्ड वैकुअम आयल कम्पनी इसकी एक मिसाल है। हमारे देश मे भी ऐसी कम्पनियाँ हैं जिनका लाभ उन देशो को जाता है। महाजनी पूजी

का निर्यात उत्पादक पूंजी के रूप में लाभ कमाने की दृष्टि से ही किया जाता है। पिछड़े हुये देशों में इन इजारेदारों को सस्ते मजदूर मिल जाते हैं और कच्चा माल भी सस्ते दामों पर मिल जाता है। इसीलिए एकाधिकारी पूंजीपति अन्य देशों में अपने कारखाने खोलते हैं।

एकाधिकारी पूंजीपतियों के लिये पूंजी का निर्यात करना अनिवार्य रूप से आवश्यक हो जाता है। उनके पास इतनी अधिक पूंजी एकत्रित हो जाती है कि अपने देश की सीमाओं के भीतर उसे लाभप्रद तरीके से नहीं लगाया जा सकता है। पूंजीपति अपनी रकम को बिना लाभ की आशा के जनता के जीवन को सुधारने के लिए किसी उद्योग में नहीं लगा सकते हैं। इसके अलावा विदेशों में पूंजी भेजकर वह अपने देश के मजदूरों के साथ भी अधिक सुविधापूर्वक सौदा कर सकते हैं। पूंजी के निर्यात से स्वयं उस देश के मजदूरों को लाभ नहीं होता, इससे उनको काम मिलने की सम्भावना भी कम हो जाती है।

विश्व का आर्थिक और क्षेत्रीय विभाजन

पूंजीवाद जब साम्राज्यवाद की मंजिल में पहुंचता है तो पूंजीपतियों के एकाधिकारी समूह विश्व के सभी देशों का बँटवारा आपस में आर्थिक रूप से कर लेते हैं। प्रायः कई देशों के पूंजीपति मिलकर निश्चय करते हैं कि किसी विशेष क्षेत्र में अपने एकाधिकार को किस प्रकार कायम किया जाय। एकाधिकारी पूंजीपतियों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन भी स्थापित होते हैं जो किसी विशेष क्षेत्र में अपनी सत्ता स्थापित कर लेते हैं। प्रथम महायुद्ध के पूर्व १९०७ ई० में संयुक्त राज्य अमेरिका की जनरल इलेक्ट्रिक कम्पनी और जर्मनी की जनरल इलेक्ट्रिक कम्पनी ने मिलकर बिजली के सामान के बाजार का बँटवारा आपस में कर लिया था। इसी तरह पेट्रोल का व्यापार अमरीकी स्टैण्डर्ड आयल कम्पनी और रायल डचशेल के बीच बँट गया था। रायल डचशेल में ब्रिटिश पूंजीपति साझीदार थे। द्वितीय महायुद्ध के

बाद योरोपीय साझा बाजार की स्थापना के पीछे यही उद्देश्य है। योरोप के पूंजीवादी देशो मे लोहे और कोयले के व्यापार पर योरोपियन कोल एण्ड स्टील कम्युनिटी की इजारेदारी कायम है। यह भी एकाधिकारी पूंजीपतियो का अन्तर्राष्ट्रीय सगठन है।

विश्व के विभिन्न देशो मे आर्थिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए एकाधिकारी पूजीपति अनेक हथकण्डो से काम लेते है। वह अन्य देशो के पूंजीपतियो को बाजार से भगाने की कोशिश करते है। बडे बडे एकाधिकारी उन देशो में सस्ते दामो पर अपनी वस्तुओ का ढेर लगा देते है। इसे अग्रेजी में डम्पिग कहते हैं। सस्ता माल भेजने का यही तरीका जापान के पूंजीपतियो ने अख्त्यार किया था जब १९३० ई० के बाद उन्होंने सस्ते कपड़े, साइकिलो आदि का ढेर हमारे देश मे लगा दिया था। उस समय एक जापानी साइकिल २० रुपये में मिलती थी और धोती का जोड़ा डेढ रुपये में।

सस्ता माल बेचकर एकाधिकारी पूजीपति अन्य देशो के बाजार से अपने प्रतिद्वन्दियो को भगाते है लेकिन इस कार्य का बोझ वह अपने देश के श्रमिक वर्ग पर डालते है। सस्ता माल तैयार करने के लिये मजदूरो का शोषण और भी तेज कर दिया जाता है।

विश्व के आर्थिक विभाजन मे एकाधिकारी पूजीपतियो की सहायता पूंजीवादी सरकारें करती हैं। अपने देश का अन्दरूनी बाजार देशी पूजीपतियों के लिये सुरक्षित रखने के उद्देश्य से सरकारें अन्य देशो मे आने वाले माल पर चुगी की दरें बढा देती है। इसे सरक्षणात्मक चुंगी कहते हैं। साथ ही साथ सरकार की ओर से निर्यात पर चुगी दर कम कर दी जाती है ताकि देशी पूजीपति बाहर के बाजार मे सस्ते दाम पर अपनी वस्तुयें बेच सकें। सरक्षणात्मक चुगी (प्रोटेक्टिव टैरिफ) की नीति पर आज-कल सभी पूजीवादी देशो की सरकारें अमल करती हैं।

एकाधिकारी पूजीपतियो के बीच विश्व का आर्थिक बंटवारा पूरी

नफ़ा कमाने के लिए विश्व का क्षेत्रीय विभाजन भी आवश्यक हो जाता है। किसी बड़े पूंजीवादी देश के इजारेदार अन्य किसी देश में ठीक तौर से तभी अपने पाँव जमा सकते हैं जब कि उस देश की सीमाओं को दूसरे देशों के एकाधिकारियों के लिये पूरी तरह बन्द कर दें। इसके लिए सम्बन्धित देश पर राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करना जरूरी हो जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक बड़े बड़े साम्राज्यवादी देशों ने पूरे विश्व का क्षेत्रीय बंटवारा कर लिया था। अन्य देशों पर कब्जा करने की दौड़ में ब्रिटेन सबसे आगे था। पश्चिमी योरोप के अन्य देशों का नम्बर ब्रिटेन के बाद आता था। जर्मनी में पूंजीवाद का विकास अपेक्षाकृत बाद में हुआ था। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के पहले जर्मन एकाधिकारी पूंजी का विकास हो चुका था और उसे बाजारों की बेहद आवश्यकता थी। बाजार हासिल करने के लिये उन एकाधिकारियों को हटाना जरूरी था जिन्होंने बाजार पर अधिकार जमा रखा था। इस प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप प्रथम महायुद्ध का सूत्रपात हुआ।

लेनिन ने एकाधिकारी पूंजी और साम्राज्यवाद के इस चरित्र को पहले से ही देख लिया था। लेनिन के सामने पहले का भी अनुभव था जो बतलाता था कि किस प्रकार ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड, पुर्तगाल आदि के पूंजीपतियों ने बाजारों की छीना-झपटी के लिए बारम्बार युद्धों की शुरूआत की है। इसलिये उन्होंने विश्व के मजदूर वर्ग को पहले से ही साम्राज्यवादी महायुद्ध के आसन्न संकट के विरुद्ध चेतावनी दी और कहा कि सर्वहारा को साम्राज्यवादी युद्ध में भाग नहीं लेना चाहिये तथा साम्राज्यवादियों के आपसी संघर्ष का फायदा उठाकर अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष करना चाहिये।

लेनिन ने कहा था कि जब तक साम्राज्यवाद कायम है तब तक युद्ध का खतरा बना रहेगा। प्रथम महायुद्ध में जर्मनी और उसके सहायक देशों की पराजय हुई और ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरीका तथा जापान आदि की (जो

न देश कहलाते थे) विजय हुई। युद्ध का परिणाम यह हुआ कि जर्मन एकाधिकारी पूंजीपतियों की इच्छा के अनुसार विश्व का पुनर्विभाजन नही हो सका, इसके विपरीत उनके पास जो क्षेत्र (या बाजार) पहले से मौजूद थे वह भी उनके हाथ से निकल गये।

प्रथम महायुद्ध के अन्त के साथ ही द्वितीय महायुद्ध की नींव पड चुकी थी। ब्रिटेन, फ्रांस और अमरीका के एकाधिकारी पूंजीपति अब पूरी तरह से हावी हो गये थे। उन्होंने युद्ध की लूट मे अपने साथी जापान को भी हिस्सा नही दिया था। यह निश्चित था कि आगे चलकर जब कभी जर्मनी के एकाधिकारी पूंजीपति शक्ति संग्रह कर लेंगे तो वह उक्त देशों के प्रभुत्व को अवश्य चुनौती देंगे। हुआ भी ऐसा ही। जर्मनी ने एक बार फिर उपनिवेशों की मांग शुरू कर दी। बाजारों की मांग को हिटलर ने "निवास स्थान" की मांग का नाम दिया। जर्मनी के साथ इटली और जापान जैसे देश आये जिनके एकाधिकारी पूंजीपतियों को सस्ते कच्चे माल और बाजार की जरूरत थी। एक नया अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति संतुलन स्थापित हुआ और द्वितीय महायुद्ध का आरम्भ हुआ। प्रथम महायुद्ध की भांति द्वितीय महायुद्ध भी विश्व के पुनर्विभाजन के लिये लडा गया था।

एकाधिकारी पूंजी के विकास के लिए उपनिवेशों की आवश्यकता होती है और उपनिवेशों के लिये युद्ध अनिवार्य हो जाता है। युद्ध और एकाधिकारी पूंजी का घनिष्ट सम्बन्ध है। युद्ध की तैयारी से इजारेदारों का फायदा होता है। युद्ध काल में उन्हें मजदूरों को खुल कर लूटने का मौका मिलता है। सरकारें मजदूर आन्दोलन पर प्रतिबन्ध लगा देती हैं और "राष्ट्रवाद" के नाम पर एकाधिकारी पूंजी को खुली छूट दे दी जाती है।

पूंजीवाद के पतन का समय

लेनिन ने यह भी कहा था कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद के पतन का द्योतक है। एकाधिकारी पूंजी के विकास के साथ पूंजीवाद अपने विकास की चरम अवस्था पर पहुंच गया। लेकिन पूंजी का एकाधिकारी स्वरूप

उसके पतन का प्रमाण देता है क्योंकि पूंजीवाद अपने साधनों का इस्तेमाल उत्पादन को बढ़ाने के लिये नहीं करता, वह जनता के जीवन में सुधार नहीं करता है।

साम्राज्यवाद के युग में पूंजीवाद ने एक विश्वव्यापी व्यवस्था का रूप धारण कर लिया। यह विश्वव्यापी व्यवस्था पूंजीपतियों की औपनिवेशिक नीति के आधार पर कायम हुई। इसलिये इस दौर में पूंजीवाद की शक्ति नहीं सुदृढ़ हुई वरन् उसके अन्तर्विरोध और भी अधिक तीव्र हो गये।

साम्राज्यवाद के युग में एक ओर तो साम्राज्यवादी देश के पूंजीपति वर्ग तथा श्रमिक वर्ग के बीच अन्तर्विरोध कायम रहता है दूसरी ओर उपनिवेशों की जनता और साम्राज्यवादी देशों के पूंजीपतियों के बीच एक जबर्दस्त अन्तर्विरोध चलता रहता है। इन दोनों अन्तर्विरोधों के साथ-साथ साम्राज्यवादी देशों के एकाधिकारी पूंजीपतियों के बीच संघर्ष चला करता है। एकाधिकारी पूंजीवाद के सभी अन्तर्विरोधों को दृष्टि में रखकर लेनिन ने कहा था कि साम्राज्यवाद को स्थायी नहीं मानना चाहिए, वह एक क्षणिक दौर है जिसके बाद सर्वहारा की क्रान्तियों का युग आने वाला है।

लेनिन की यह भविष्यवाणी अक्षरशः सच निकली। प्रथम महायुद्ध के बाद विश्व के प्रथम समाजवादी राज्य सोवियत संघ की स्थापना हुई। पूंजीवाद के वह प्रचारक गलत साबित हुये जो एकाधिकारी पूंजीवाद के उत्थान में पूंजीवाद की अराजकता और अव्यवस्था का अन्त देखते थे और उसके सुन्दर विकास के सपने देखते थे। द्वितीय महायुद्ध आया और उसके बाद चीन तथा पूर्वी योरोप के देशों को मिलाकर संसार की एक-तिहाई जनता ने समाजवादी सरकारें स्थापित कर लीं। भारत आजाद हुआ और एशिया तथा अफ्रीका के अनेक देशों ने साम्राज्यवाद के जुयें को उतार फेंका। नव स्वतंत्र देशों ने साम्राज्यवादी देशों के आर्थिक शोषण को भी दूर करने का प्रयास शुरू कर दिया। अब साम्राज्यवाद का अन्त निकट आ गया है।

नव-उपनिवेशवाद

औपनिवेशिक देशों की जनता के आन्दोलन ने साम्राज्यवाद की जड़ें हिला दी है और साम्राज्यवादी जानते है कि अब उनके वह पुराने दिन फिर नही आ सकते है। लेकिन इससे यह नतीजा नही निकाला जा सकता कि अब साम्राज्यवाद का चरित्र बदल गया है। इस युग मे साम्राज्यवादी नया जामा पहनकर सामने आते है। अब वह पहले की तरह अन्य देशों पर सीधे तौर पर अधिकार करने के बजाय अप्रत्यक्ष रूप से अपनी उपनिवेशवादी योजनाओं को कार्यान्वित करते है।

बहुत से देशों को साम्राज्यवादियों ने प्रत्यक्ष रूप से "आजाद" कर दिया है लेकिन उन देशों म उन्होंने अपने पिट्ठुओं की सरकारें बना रखी है जो साम्राज्यवादी देशों की एकाधिकारी पूंजी के स्वार्थों की रक्षा करती है। दक्षिण कोरिया और दक्षिणी वियतनाम मे ऐसी ही सरकारे है। मध्य-पूर्व के अनेक देशों मे इसी तरह की सरकारें हैं।

साम्राज्यवादियों की यह नीति नई नही है। किन्तु इस नीति का प्रयोग आज बड़े पैमाने पर हो रहा है। लेनिन ने अपनी पुस्तक "साम्राज्य-वाद" मे पुर्तगाल की मिसाल देते हुए बताया था कि कुछ देश अन्य देशो पर शासन करते है लेकिन वास्तव मे स्वयं अन्य देशो के गुलाम होते है।

नव-उपनिवेशवाद की नीति के शिकार केवल वही देश नही होते हैं जो पिछड़े हुए हैं या जिन्होंने हाल मे ही आजादी हासिल की है। इस नीति के शिकार आगे बढ़े हुए पूंजीवादी देश भी हो रहे हैं। आज अमरीकी साम्राज्यवादी इस नीति के सबसे बडे प्रवर्तक हैं। उन्होने अपनी एकाधिकारी पूंजी के लिये जापान, पश्चिमी जर्मनी और ब्रिटेन जैसे देशो मे जगह बना ली है। अमरीकी साम्राज्यवादी इन देशो की सार्वभौम सत्ता मे भी हस्तक्षेप करते हैं।

राजकीय एकाधिकारी पूंजी और राजकीय पूंजीवाद

अधिक लाभ प्राप्त करना हमेशा पूंजीपति वर्ग का उद्देश्य रहा है।

एकाधिकारी पूंजी के युग में लाभ प्राप्त करने के तरीकों और साधनों में भी महान परिवर्तन हो जाता है। एकाधिकारी पूंजीपतियों को अपने प्रतिद्वन्दियों की प्रतियोगिता का उतना अधिक डर नहीं रहता है जितना पहले स्वतंत्र प्रतियोगिता के जमाने में पूंजीपतियों को रहा करता था। इसलिए एकाधिकारी पूंजीपति और भी बड़े पैमाने पर मुनाफे की रकमें बटोरते हैं।

पूंजीपति वर्ग हमेशा सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व की दुहाई देता है जब कभी वह कम्युनिज्म का हौवा खड़ा करता है तो यही कहता है कि कम्युनिस्ट लोगों की व्यक्तिगत सम्पत्ति छीन लेंगे। इसीलिए बहुत से लोग उस समय आश्चर्य में पड़ जाते हैं जब वह देखते हैं कि पूंजीवादी सरकारें भी राष्ट्रीयकरण की नीति का पालन कर रही है। पूंजीवाद के इस राजकीय रूप को देखकर यह ख्याल पैदा होता है कि अब पूंजीवाद का चरित्र बदल गया है। भ्रम में पड़कर बहुत से समाजवादी विचारों के लोग भी कहने लगते हैं कि अब पूंजीवाद का "जनतंत्रीकरण" हो गया है या पूंजीवादी सरकारें स्वयं ही समाजवाद की ओर अग्रसर हो रही हैं।

पूंजीवाद का राजकीय स्वरूप साम्राज्यवादी देशों में भी दिखाई देता है। ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका, फ्रांस आदि की सरकारें उत्पादन, व्यापार, पूंजी के निर्यात आदि को नियन्त्रित करने के लिये अनेक कानून बनाती हैं। सरकार की ओर से नये कारोबार खोले जाते हैं और कभी कभी निजी क्षेत्र के किसी उद्योग का राष्ट्रीयकरण भी कर दिया जाता है। लेकिन पूंजीवादी सरकारों के इन कदमों को समाजवाद का नाम नहीं दिया जा सकता है। वास्तव में यह **राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद** (स्टेट मानोपोली कपिटेलिज्म) है।

राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद में एकाधिकारी पूंजी को खतम नहीं किया जाता है बल्कि एकाधिकारी पूंजी के साथ राजकीय उद्योगों को मिला दिया जाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद में सरकारें जनता से वसूल की गयी टैक्सों की रकम को एकाधिकारी

श्रेणियों के हित में खर्च करती है। राजकीय क्षेत्र में बड़ी बड़ी औद्योगिक इकाइयाँ चलाई जाती हैं लेकिन उनका ठेका निजी क्षेत्र के एकाधिकारी श्रेणियों को दे दिया जाता है। ठेकेदारों को रकमों से एकाधिकारी क्षेत्र पूंजीपति मालामाल होते हैं। बाद में जब राजकीय क्षेत्र के यह उद्योग लाभदायक रूप से 'चलने' लगते हैं तो सरकार उन्हें इजारेदारों के हाथ "संतोषजनक मूल्य में" (सस्ते दामों में) बेच देती है। राष्ट्रीयकरण भी इसी ढंग से होता है। सरकार उन्हीं उद्योगों को पूंजीपतियों से लेती है जो अब लाभदायक नहीं रह गये हैं। इस तरह पूंजीपति घाटे से बच जाते हैं। कभी कभी यह भी होता है कि सरकार जिन उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करती है उन्हें फिर पूंजीपतियों को वापस कर देती है। ब्रिटेन में द्वितीय महायुद्ध के बाद लेबर पार्टी की सरकार ने इसी तरह कोयले की खानों का राष्ट्रीयकरण किया था और बाद में इस राष्ट्रीयकरण को समाप्त कर दिया।

राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद की दूसरी विशेषता यह है कि उसके अन्तर्गत राजसत्ता या सरकार पूरी तरह से एकाधिकारी पूंजीपतियों के हाथ में आ जाती है और उन्हीं के स्वार्थों की देख रेख करती है। सरकार की ओर से पूंजीपतियों को "ऋण" और 'सहायता' आदि मिलने में आसानी हो जाती है। इसके लिये जो कानून बनते हैं वह एकाधिकारी पूंजीपतियों के स्वार्थों को प्राथमिकता प्रदान करते हैं। सरकार मजदूर आन्दोलन को दमन के लिए अधिकाधिक हस्तक्षेप करती है। मजदूर आन्दोलनों को 'राष्ट्रीय हित" के विरुद्ध बताया जाता है। सरकार की मशीन में सीधे और पर एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों का प्रवेश होता है। सरकारी नौकरशाही तो आम तौर से पूंजीपति वर्ग के पिट्ठुओं से भरी रहती है लेकिन मंत्रियों में भी बड़े-बड़े इजारेदारों के प्रतिनिधि पहुंच जाते हैं। ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरीका की सरकारों के नेताओं में प्रायः ऐसे लोग मिलेंगे जो बड़े-बड़े एकाधिकारी पूंजीवादी फर्मों से सम्बन्धित हैं। अमरीकी राष्ट्रपति केनेडी स्वयं बड़े पूंजीपति थे और उनके पास अरबों

होता है। समाजवाद के निर्माण के लिए सबसे पहले मजदूर वर्ग की सरकार की आवश्यकता होती है। जब तक मजदूर वर्ग के हाथ में राजसत्ता नहीं आती है तब तक समाजवाद की स्थापना असम्भव है।

राजकीय पूँजीवाद के सम्बन्ध में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि वह समाजवाद के निर्माण के लिए भौतिक परिस्थितियाँ तैयार करता है। जब श्रमिक वर्ग की सरकार कायम होगी तो उसके लिए राजकीय क्षेत्र में निर्मित उद्योगों का आधार प्राप्त हो जायगा और इन उद्योगों को जनता की सम्पत्ति बनाने के लिए उसे संघर्ष नहीं करना पड़ेगा।

लेकिन राजकीय पूंजीवाद अपने-आप ही समाजवाद में नहीं बदल जाता राजकीय पूंजीवाद में जहाँ मजदूर वर्ग की वृद्धि होती है वहीं पूंजीपतियों की भी शक्ति बढ़ती है। सरकार की ओर से उन्हें अधिकाधिक सुविधायें प्रदान करने तथा जनता पर बोझ लादने का रुझान दिखाई देना अस्वाभाविक नहीं है। ऐसी हालत में यदि मजदूर वर्ग ने पूंजीवादी सरकार के इस रुझान को न रोका तो राजकीय पूँजीवाद में प्रतिक्रियावादी तत्वों का विकास होने लगेगा और वह राजकीय एकाधिकारी पूँजीवाद का रूप ग्रहण कर लेगा।

ऐसे अल्प विकसित देशों में, जहाँ की सरकारों ने आर्थिक व्यवस्था के निर्माण के लिए राजकीय पूंजीवाद का रास्ता अख्त्यार किया है, पूंजीवादी सरकारें देश के सामन्ती तत्वों से समझौता करने की कोशिश करती हैं और विदेशी एकाधिकारी पूंजी के साथ स्वयं साँठ-गाँठ करती है या देश के पूँजीपतियों को उनके साथ मिलकर "संयुक्त उद्योग" चलाने की अनुमति देती है। यह प्रवृत्ति खतरनाक होती है और राजकीय पूंजीवाद के प्रगतिशील पहलू को खतम कर देती है। इसी की पूरक नीति जन संगठनों और जन आन्दोलनों पर तथा विशेषतः कम्युनिस्टों पर प्रहार करने की नीति है। यदि इस नीति को अविराम गति से चलने दिया जाय तो यहाँ का राजकीय पूँजीवाद प्रतिक्रियावादी राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद में परिणत हो जायगा।

वाँ अध्याय | पूंजीवाद का आम संकट

१९१७ ई० में रूस की जनता ने प्रथम समाजवादी राज्य की स्थापना की, जिसे हम आज सोवियत समाजवादी संघ कहते हैं। इसके साथ ही विश्व की पूंजीवादी व्यवस्था में एक दरार पड़ गयी और पूंजीवाद के आम संकट का आरम्भ हुआ। पूंजीवाद का यह आम संकट लगातार गहरा होता जा रहा है। द्वितीय महायुद्ध के बाद पूर्वी योरोप में पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया, हंगरी, बल्गेरिया, अल्बानिया और पूर्वी जर्मनी में समाजवादी सरकारें कायम हो गयीं। एशिया में चीन तथा उत्तरी कोरिया में भी जनता ने समाजवाद का मार्ग ग्रहण किया और बाद में उत्तरी वियतनाम भी समाजवादी शिविर में शामिल हो गया। इस प्रकार अब विश्व में दो प्रकार की सामाजिक व्यवस्थायें चल रही हैं। एक तरफ पूंजीवादी साम्राज्यवादी व्यवस्था है जिसके देश कम पड़ते गये हैं। दूसरी ओर समाजवादी व्यवस्था है जिसने लगातार प्रगति की है। विश्व समाजवादी व्यवस्था का जन्म पूंजीवाद के वर्तमान आम संकट का सबसे मौलिक चिन्ह है।

विश्व समाजवादी व्यवस्था के जन्म से संसार में दो समानान्तर बाजार भी कायम हो गये। समाजवादी देशों की जनसंख्या पूरे संसार की जनसंख्या के लगभग एक तिहाई के बराबर है। इन देशों में वह देश शामिल हैं जहाँ पहले साम्राज्यवादी देशों के एकाधिकारी पूंजीपतियों को मुनाफा कमाने की पूरी आजादी मिली हुई थी। अब समाजवादी देशों के बाजार में इन एकाधिकारी पूंजीपतियों को अनियन्त्रित रूप से प्रवेश करने की सुविधा

रुपयों की जायदाद थी। अमरीकी सुरक्षा मंत्री श्री मैकनामारा फोर्ड मोटर कम्पनी के अध्यक्ष रह चुके हैं। ब्रिटेन के मंत्रियों के बारे में सभी जानते हैं कि वह जब मंत्रिमण्डल से बाहर होते हैं तो किसी न किसी बड़ी कम्पनी या बैंक के संचालक हो जाते हैं।

राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद में उत्पादन और भी अधिक बड़े पैमाने पर केन्द्रीकरण के मार्ग पर आगे बढ़ता है और सामाजिक उत्पादन बन जाता है। उत्पादन का यह समाजीकरण, यद्यपि एकाधिकारियों द्वारा अपने फायदे के लिए किया जाता है, लेकिन उनका यह कदम भविष्य में आने वाली समाजवादी व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त कर देता है। लोगों के लिए यह समझना आसान हो जाता है कि यदि पूंजीपतियों के हित में कोई सरकार उत्पादन का समाजीकरण कर सकती है तो मजदूर वर्ग और मेहनतकश जनता के हित में भी समाजीकरण किया जा सकता है।

राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद पूंजीवादी व्यवस्था का प्रतिक्रियावादी स्वरूप है। इसके अन्तर्गत निम्न तथा मध्यम पूंजीपति भी एकाधिकारियों की लूट से अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो जाते हैं क्योंकि एकाधिकारियों के पास विशाल पूंजी और सरकार दोनों की ही शक्ति रहती है। मध्यम और निम्न पूंजीपति क्रमशः अधिक गरीब होते जाते हैं और अन्ततः एकाधिकारी पूंजी के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इस परिस्थिति में उनके साथ मजदूर वर्ग के संयुक्त मोर्चे की सम्भावनायें पैदा होती हैं।

राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद तथा राजकीय पूंजीवाद (स्टेट कैपिटलिज्म) में अन्तर है। राजकीय पूंजीवाद का विकास एशिया और अफ्रीका के उन देशों में हो रहा है जिन्होंने हाल के वर्षों में स्वाधीनता प्राप्त की है। भारत, इण्डोनेशिया, श्री लंका और मिस्र इन्हीं देशों में हैं। राजकीय पूंजीवाद पिछड़े हुए देशों की अर्थ-व्यवस्था को साम्राज्यवादि[illegible] अथवा राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद के देशों के चंगुल से मुक्त क[illegible]

...हो सकता है। अतएव राजकीय पूंजीवाद का लक्ष्य एक अर्थ मे ... सदय है।

पिछड़े हुए देशों मे राजकीय पूंजीवाद का विकास इन देशो के पूंजी-... स्वरूप से सम्बन्धित है। इन देशो मे जब राजकीय ... मे बड़े उद्योगो का निर्माण होता है तो मजदूर वर्ग उनका स्वागत ... है क्योंकि उसे मालूम है कि इन उद्योगो का विकास विदेशी ...वादी पूंजी की लूट को खतम करने मे सहायक होगा।

यह सत्य है कि जब पिछड़े देशो की पूंजीवादी सरकारें राजकीय क्षेत्र ...उद्योगों का निर्माण करती हैं तो उनके सामने पूंजीपति वर्ग का हित ...ता है। इन देशो की सरकारो को पता है कि वर्तमान युग के भारी ...उद्योगों का निर्माण इन पिछड़े देशो के पंजीपतियों के अल्प साधनो के बल ...नहीं किया जा सकता है। पूंजीपतियो के निजी क्षेत्र की सहायता के ...लिए भी राजकीय क्षेत्र की आवश्यकता है। लेकिन मजदूर वर्ग जब राज-...कीय पूंजीवाद का स्वागत करता है तो वह समाजवाद के मूल सिद्धान्त का ...समर्थन करता है जिसके अनुसार उत्पादन के साधनों पर राज्य का अथवा ...समाज का अधिकार होना चाहिए। इन देशो मे मजदूर वर्ग माग करता है ...कि सभी बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाय। मजदूर वर्ग चाहता ...है कि इस प्रकार जनता के प्रतिनिधियों द्वारा उद्योगो के प्रबन्ध मे हस्तक्षेप ...करने के अधिकार को मान्यता प्राप्त हो।

लेकिन सुधारवादी और संशोधनवादी राजकीय पूंजीवाद के वर्ग-चरित्र ...को तथा उसकी सीमाओं को भुला देते है। वह राजकीय पूंजीवाद मे ...समाजवाद के निर्माण का स्वप्न देखने लगते है। समाजवाद के प्रति जनता ...की बढ़ती हुई आस्था और प्रेम को देखकर पूंजीवादी सरकारें भी अपने ...राजकीय पूंजीवाद को समाजवाद का नाम प्रदान कर देती है।

राजकीय पूंजीवाद को समाजवाद की संज्ञा नही प्रदान की जा सकती ...है। समाजवादी व्यवस्था का जन्म पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं

ता है। समाजवाद के निर्माण के लिए सबसे पहले मजदूर वर्ग की सरकार
ी आवश्यकता होती है। जब तक मजदूर वर्ग के हाथ में राजसत्ता नहीं
ाती है तब तक समाजवाद की स्थापना असम्भव है।

राजकीय पूँजीवाद के सम्बन्ध में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि वह समाजवाद के निर्माण के लिए भौतिक परिस्थितियाँ तैयार करता है। जब श्रमिक वर्ग की सरकार कायम होगी तो उसके लिए राजकीय क्षेत्र में निर्मित उद्योगों का आधार प्राप्त हो जायगा और इन उद्योगे को जनता की सम्पत्ति बनाने के लिए उसे संघर्ष नहीं करना पड़ेगा।

लेकिन राजकीय पूंजीवाद अपने-आप ही समाजवाद में नहीं वद जाता राजकीय पूंजीवाद में जहाँ मजदूर वर्ग की वृद्धि होती है वहीं पूंजीपतियों की भी शक्ति वढ़ती है। सरकार की ओर से उन्हें अधिकाधिक सुविधायें प्रदान करने तथा जनता पर बोझ लादने का रुझान दिखाई देना अस्वाभाविक नहीं है। ऐसी हालत में यदि मजदूर वर्ग ने पूंजीवादी सरकार के इस रुझान को न रोका तो राजकीय पूंजीवाद में प्रतिक्रियावादी तत्वों का विकास होने लगेगा और वह राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद का रूप ग्रहण कर लेगा।

ऐसे अल्प विकसित देशों में, जहाँ की सरकारों ने आर्थिक व्यवस्था के निर्माण के लिए राजकीय पूंजीवाद का रास्ता अख्त्यार किया है, पूंजीवादी सरकारें देश के सामन्ती तत्वों से समझौता करने की कोशिश करती हैं औ विदेशी एकाधिकारी पूंजी के साथ स्वयं साँठ-गाँठ करती है या देश के पूंजीपतियों को उनके साथ मिलकर "संयुक्त उद्योग" चलाने की अनुमति देती है। यह प्रवृत्ति खतरनाक होती है और राजकीय पूंजीवाद के प्रगतिशील पहलू को खतम कर देती है। इसी की पूरक नीति जन संगठनों और जन आन्दोलनों पर तथा विशेषतः कम्युनिस्टों पर प्रहार करने की नीति है। यदि इस नीति को अविराम गति से चलने दिया जाय तो यहाँ का राजकीय पूंजीवाद प्रतिक्रियावादी राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद में परिणत हो जायगा।

[illegible] अध्याय | पूंजीवाद का आम संकट

1917 ई० में रूस की जनता ने प्रथम समाजवादी राज्य की स्थापना की, जिसे हम आज सोवियत समाजवादी संघ कहते हैं। इसके साथ ही विश्व की पूंजीवादी व्यवस्था में एक दरार पड़ गयी और पूंजीवाद के आम संकट का आरम्भ हुआ। पूंजीवाद का यह आम संकट लगातार गहरा होता जा रहा है। द्वितीय महायुद्ध के बाद पूर्वी यूरोप में पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया, हंगरी, बल्गेरिया, अल्बानिया और पूर्वी जर्मनी में समाजवादी सरकारें कायम हो गयी। एशिया में चीन तथा उत्तरी कोरिया में भी जनता ने समाजवाद का मार्ग ग्रहण किया और बाद में उत्तरी वियतनाम भी समाजवादी शिविर में शामिल हो गया। इस प्रकार अब विश्व में दो प्रकार की सामाजिक व्यवस्थायें चल रही हैं। एक तरफ पूंजीवादी साम्राज्यवादी व्यवस्था है जिसके दिन कम पड़ते गये हैं। दूसरी ओर समाजवादी व्यवस्था है जिसने लगातार प्रगति की है। विश्व समाजवादी व्यवस्था का उदय पूंजीवाद के वर्तमान आम संकट का सबसे मौलिक चिन्ह है।

विश्व समाजवादी व्यवस्था के जन्म से संसार में दो समानान्तर बाजार भी कायम हो गये। समाजवादी देशों की जनसंख्या पूरे संसार की जनसंख्या के लगभग एक तिहाई के बराबर है। इन देशों में वह देश शामिल हैं जहाँ पहले साम्राज्यवादी देशों के एकाधिकारी पूंजीपतियों को मुनाफा लूटने की पूरी आजादी मिली हुई थी। अब समाजवादी देशों के बाजार में इन एकाधिकारी पूंजीपतियों को अनियंत्रित रूप से प्रवेश करने की सुविधा

रहा है और आगामी कुछ वर्षों मे सोवियत संघ का प्रतिव्यक्ति उत्पादन अमरीका से आगे निकल जायगा। इसी भाँति चीन का जनवादी गणतंत्र ब्रिटेन की बराबरी करने जा रहा है।

बड़े-बड़े पूँजीवादी देश आज अपनी उत्पादन-क्षमता का पूरा उपयोग नहीं कर पाते हैं क्योंकि उनके सामने बाजारों की समस्या है। १९६० ई० में संयुक्त राज्य अमरीका ने अपनी लोहे की उत्पादन क्षमता के केवल ५४ प्रतिशत का उपयोग किया। अन्य पूँजीवादी देशों का भी यही हाल है। ये देश एक ओर तो उत्पादन को निम्नस्तर पर रखते हैं दूसरी ओर उनके यहाँ दिन प्रतिदिन बेकारी बढ़ती जाती है। १९२९ ई० में संयुक्त राज्य अमरीका की जनसंख्या मे ६१ प्रतिशत लोग पूरी तरह बेकार थे।

पूँजीवादी विचारकों का कथन था कि अब पूँजीवादी व्यवस्था को संकटों से मुक्ति मिल जायगी। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कीन्स तथा उसके अनुयायियों ने राजकीय एकाधिकारी पूँजीवाद को लेकर इस तरह की सुन्दर भविष्यवाणियाँ की थी। लेकिन अनुभव ने सिद्ध कर दिया कि इस दौर में पूँजीवादी संकटों का अन्त नहीं हुआ बल्कि उनकी संख्या में वृद्धि हुई है और पूँजीवादी "व्यापार चक्र" अर्थात एक संकट तथा दूसरे संकट के बीच का समय और भी कम पड़ गया है। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के पूर्व पूँजीवादी संकटों के बीच का समय आम तौर से ८ से १२ वर्ष तक होता था। प्रथम महायुद्ध के बाद १९-९ ई० और १९३९ ई० के बीच में तीन बार आर्थिक संकट आया, जिसमें १९२९ ई० का आर्थिक संकट सबसे भयंकर था। १९३९ ई० से १९४५ ई० तक द्वितीय विश्व युद्ध चलता रहा। इसके बाद १९४८ ई० मे ही संयुक्त राज्य अमरीका को प्रथम संकट का सामना करना पड़ा। दूसरा संकट १९५३ ई० में कोरिया के युद्ध के बाद आया और तीसरा संकट १९५८ ई० में आ गया। तीनों बार अमरीका के उत्पादन में लगभग १० प्रतिशत कमी हो गयी।

पूँजीवादी व्यवस्था मे संकटों का आना अनिवार्य है क्योंकि उसमें

लोगों को काम भी मिल जाता है। सैनिक व्यय को बढ़ाकर भी संकट
कम नहीं किया जा सकता है। इससे वस्तुओं की कृत्रिम मांग तो पैदा
हो जाती है परन्तु लोगों की क्रयशक्ति गिर जाती है और वास्तविक मांग
कम होती जाती है। सैनिक व्यय के लिये टैक्सों का भार बढ़ाया जाता है
और मुद्रा प्रसार किया जाता है। इन दोनों का परिणाम यह होता है कि
श्रमजीवी जनता की वास्तविक आय गिर जाती है। आर्थिक संकट को
दूर करने का यह तरीका अन्त में एक और भी बड़े और भीषण आर्थिक
संकट की नींव डाल देता है।

पूंजीवाद के आम आर्थिक संकट के दौर में श्रमिक और पूंजीपति वर्ग
के बीच का अन्तर्विरोध और भी तीव्र हो जाता है। किसानों के भी जीवन-
स्तर में गिरावट आती है और वह पूंजीवाद के अन्त में अपनी मुक्ति देखने
लगते हैं। अनेक बुद्धिजीवियों की स्थिति मजदूरों से भी बदतर हो जाती है
और वह मजदूर वर्ग के साथ आ जाते हैं। मध्यम और निम्न पूंजीपतियों
में भी राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद के प्रति घृणा उत्पन्न होती है।

इस दौर में साम्राज्यवादी देशों ने समाजवादी देशों के विरुद्ध अपनी
एकता स्थापित करने के लिये भरसक कोशिश की है। समाजवादी शिविर
तथा पूंजीवादी देशों के बीच का अन्तर्विरोध कायम है। फिर भी इस
अन्तर्विरोध के कारण साम्राज्यवादी देशों के बीच का अन्तर्विरोध समाप्त
नहीं हुआ है। इसके विपरीत, राजकीय एकाधिकारी पूंजी के देशों के बीच
अन्तर्विरोधों में वृद्धि होती जा रही है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमरीका विश्व का सबसे प्रबल
पूंजीवादी देश बन गया था और उसी के नेतृत्व में सभी साम्राज्यवादी
चलते थे। साम्राज्यवादी देशों में दो प्रकार के देश थे—वह देश जो एक
साथ मिल कर हिटलरी जर्मनी के विरुद्ध लड़े थे और दूसरी ओर जर्मनी
तथा उसके मित्र देश जापान और इटली। द्वितीय महायुद्ध में जर्मनी की
पराजय के फलस्वरूप जर्मनी और जापान के एकाधिकारी पूंजीपति संयुक्त

...वां अध्याय | समाजवाद और साम्यवाद

मार्क्स के जीवन काल मे पूजीवाद प्रगति कर रहा था । एकाधिकारी [illegible]यों का जन्म हो रहा था और पूजीवाद ने अभी तक अपनी अन्तिम मंजिल में प्रवेश नही किया था । मार्क्स ने पूजीवाद के अन्तर्विरोधों को देखा और कहा कि पूजीवादी व्यवस्था का अन्त अनिवार्य है । मार्क्स ने यह भी कहा [कि] पूंजीवाद के खात्मे के बाद एक वर्गहीन समाज की स्थापना होगी और साम्यवाद स्थापित होगा, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार काम करेगा और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति होगी । मार्क्स ने यह भी बताया कि साम्यवाद की स्थापना के पूर्व समाजवाद की स्थापना होगी । समाजवाद की मंजिल को पार करके ही पूजीवाद से साम्यवाद तक पहुंचा जा सकता है । समाजवाद के अन्तर्गत प्रत्येक मनुष्य अपनी योग्यता के अनुसार काम करेगा और उसे उसके काम के अनुसार मिलेगा ।

साम्यवाद के सम्बन्ध मे मार्क्स के विचार किसी कल्पना पर आधारित नहीं थे । मार्क्स ने स्पष्ट कर दिया था कि साम्यवाद की स्थापना उन समस्त उत्पादन के साधनो की प्रगति को प्रयोग मे लाकर की जायगी जिनके प्रादुर्भाव का श्रेय पूजीवाद को है । मार्क्स उन लोगों से भिन्न विचार रखते थे जो पूजीवाद की बुराइयो मे तग आकर पूजीवादी युग की वैज्ञानिक तथा प्राविधिक प्रगति को तिलाजलि देकर छोटे-छोटे उत्पादकों के तथाकथित स्वर्ण-युग की बातें करते थे और इस तरह इतिहास को पीछे की दिशा मे मोड़ना चाहते थे ।

भविष्य में आने वाले साम्यवादी समाज को उस आदिम साम्यवाद से भी भिन्न मानना चाहिए जिसके बीच से मानव समाज अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में गुजर चुका है। आदिम साम्यवाद उत्पादन के साधनों के पिछड़ेपन पर आधारित था जब कि साम्यवाद की स्थापना उत्पादन के साधनों की उन्नति के आधार पर होगी, जिसके बल पर सभी की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकेगा।

मार्क्स के जीवन काल में समाजवाद केवल एक आदर्श के रूप में था, उसने व्यवहारिक रूप नहीं धारण किया था। अतएव उस समय समाजवादी अर्थव्यवस्था और साम्यवाद के नियमों का पूरी तरह उल्लेख नहीं किया जा सकता था। फिर भी मार्क्स ने समाजवाद और साम्यवाद के मौलिक नियमों पर प्रकाश डाला। प्रथम समाजवादी राज्य की स्थापना लेनिन के नेतृत्व में हुई। समाजवाद के निर्माण के सम्बन्ध में लेनिन की शिक्षायें अत्यधिक महत्वपूर्ण है। अब तो समाजवादी व्यवस्था केवल एक देश की सीमाओं के भीतर नहीं है वरन् कई देशों में उसको ग्रहण कर लिया गया है। इसलिए समाजवाद के आर्थिक नियमों पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला जा सकता है। सोवियत संघ में अब समाजवाद का निर्माण पूरा हो गया है और वहां साम्यवाद की रचना होने जा रही है। अतएव साम्यवाद के आर्थिक नियमों के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा सकता है।

समाजवाद के सामान्य आर्थिक नियम

पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था का विकास सभी देशों में एक साथ ही और समान गति से नहीं हुआ था। पूंजीवाद के विकास की असमानता से विभिन्न देशों में समाजवाद के विकास में भी विभिन्नता पैदा होती है। समाजवादी व्यवस्था का जन्म सभी देशों में एक साथ नहीं हुआ। जब पूंजीवाद ने साम्राज्यवाद का रूप धारण कर लिया तो समाजवादी क्रान्ति

के दिनों में भी परिवर्तन हुआ। मार्क्स के समय में ऐसा अनुमान किया गया था कि सबसे पहले उन्ही देशो मे समाजवाद स्थापित होगा जहाँ पूँजीवाद अधिक विकसित हो चुका था। लेकिन बाद में मार्क्स के अनुयायियों को यह विचार बदलना पड़ा। लेनिन ने कहा था कि साम्राज्यवाद के युग में समाजवादी क्रान्ति की सबसे अधिक सम्भावना उन देशों में है जहाँ पूँजीवाद के अन्तर्विरोधों ने उसे सबसे अधिक कमजोर कर दिया है। रूस ऐसे ही देशों में था। वहाँ पूँजीवाद का विकास ब्रिटेन और जर्मनी की अपेक्षा कम हुआ था लेकिन पूँजीवाद के अन्तर्विरोध अधिक तेजी से काम कर रहे थे।

रूस की समाजवादी क्रान्ति की भाँति अन्य देशो की समाजवादी क्रान्ति भी ऐसे ही देशों में हुई जहाँ पूँजीवाद का विकास बहुत कम हुआ था। चीन तथा पूर्वी योरोप के समाजवादी देशो मे पूँजीवाद ने बहुत कम प्रगति की थी।

लेनिन ने यह भी बताया था कि प्रत्येक देश की समाजवादी क्रान्ति की अपनी विशेषता होगी। क्रान्ति का लक्ष्य मौलिक रूप से समाजवाद की स्थापना होने पर भी प्रत्येक देश की आर्थिक और सामाजिक विशेषताओं तथा परम्पराओं को ध्यान मे रखना होगा। इसके अलावा उन्होंने यह भी कहा कि समाजवाद की स्थापना के लिए सभी देशो मे एक साथ ही क्रान्ति की आवश्यकता नही है। किसी एक देश मे भी समाजवाद का निर्माण सफलतापूर्वक किया जा सकता है। समाजवादी क्रान्तियो के इस अनुभव ने लेनिन के कथन की सत्यता सिद्ध कर दी है।

विभिन्न देशों की समाजवादी क्रान्ति की अपनी राष्ट्रीय विशेषता होती है और कम्युनिस्ट इन विशेषताओं को ध्यान में रखते है लेकिन सभी देशो मे समाजवादी व्यवस्था के निर्माण के कुछ मौलिक नियम है जो समान रूप से लागू होते हैं। इन नियमों की उपेक्षा करके समाजवाद नही स्थापित किया जा सकता है।

मजदूर वर्ग का अधिनायकतंत्र

पूंजीवादी व्यवस्था स्वतः समाजवाद को जन्म नहीं देती है। पूंजीवाद से समाजवाद तक पहुंचने में समय भी लगता है। यह काम एक दिन में नहीं हो सकता है। समाजवाद की स्थापना की सबसे पहली शर्त यह है कि इस काम को पूरा करने के लिए मजदूर वर्ग का अधिनायकतंत्र स्थापित होना चाहिये। मजदूर वर्ग के अधिनायकतंत्र में ही समाजवाद का निर्माण सम्भव है। मार्क्सवादियों अथवा कम्युनिस्टों की विशेषता यही है कि वह अन्य समाजवादियों अथवा सामाजिक जनवादियों की भाँति यह नहीं मानते हैं कि किसी पूंजीवादी सरकार के निर्देशन में समाजवाद की स्थापना हो सकती है।

मजदूर वर्ग के अधिनायकतंत्र के स्वरूपों में विभिन्न देशों की परिस्थितियों के अनुसार अन्तर हो सकता है लेकिन किसी न किसी रूप में उसे कायम करना हर देश के लिए जरूरी है। रूस में मजदूर वर्ग के अधिनायकतंत्र का स्वरूप सोवियत सरकार के तौर पर सामने आया। पूर्वी योरोप के देशों में जनता की लोकशाही कायम हुई। चीन में भी जनता की लोकशाही स्थापित हुई। वहाँ सरकार में कई दल शामिल हुये। लेकिन मौलिक रूप से जनता की लोकशाही की सरकार भी मजदूर वर्ग का अधिनायक-तन्त्र है।

मजदूर वर्ग के अधिनायकतंत्र की स्थापना और उसका नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी के द्वारा होता है। कम्युनिस्ट पार्टी मजदूर वर्ग की पार्टी है। समाजवाद के लिए उसी का नेतृत्व चाहिए। पूंजीपति वर्ग की पार्टियां समाजवाद का नाम भले ही लें किन्तु वास्तव में वह समाजवाद से दूर रहती हैं। विभिन्न प्रकार के सुधारवादी तथा संशोधनवादी समाजवाद का नारा देते हैं किन्तु मजदूर वर्ग के अधिनायकतंत्र और कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व के बारे में मार्क्सवाद की शिक्षा को नहीं मानते हैं।

समाजवादी क्षेत्र का निर्माण

मजदूर वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित हो जाने के बाद समाजवादी व्यवस्था की रचना प्रारम्भ होती है। पूंजीवाद से समाजवाद तक पहुंचने में समय लगता है। इस संक्रमणकाल में आर्थिक व्यवस्था के समाजवादी क्षेत्र का निर्माण किया जाता है।

अर्थ व्यवस्था के समाजवादी क्षेत्र के साथ समाजवादी राष्ट्रीयकरण का सम्बन्ध है। मजदूर वर्ग की सरकारें उत्पादन के उन साधनों पर अधिकार कर लेती हैं जो पहले पूंजीपति वर्ग की सम्पत्ति थे। राष्ट्रीयकरण के द्वारा समाजवादी सरकारें सबसे पहले बड़े-बड़े उद्योगों, बैंकों, बीमा कम्पनियों और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अपने हाथ में लेती हैं। राष्ट्रीयकरण का कार्य विभिन्न देशों में पृथक ढंग से हो सकता है किन्तु राष्ट्रीयकरण के बगैर समाजवाद स्थापित नहीं हो सकता है।

उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व का अन्त करने और उनका सार्वजनीकरण करने की दिशा में राष्ट्रीयकरण पहला कदम है। सोवियत संघ में सरकार ने सभी उद्योगों का एक साथ ही बिना किसी प्रतिकर (मुआविजे) के राष्ट्रीयकरण कर दिया था। चीन में केवल उन बड़े पूंजीपतियों की सम्पत्ति का तत्काल राष्ट्रीयकरण किया गया जो साम्राज्यवाद के सहायक थे। अन्य पूंजीपतियों को अपना कारोबार चलाने की अनुमति दे दी गयी और बाद में उन्होंने स्वयं अपने अधिकारों को सरकार के सुपुर्द कर दिया क्योंकि निजी उद्योग अधिक लाभकर नहीं रह गये थे। पूर्वी योरोप के जनवादी देशों में बड़ा पूंजीपति वर्ग नाजी जर्मनी के साथ मिल गया था अतः उसकी सम्पत्ति का एकबारगी राष्ट्रीयकरण किया गया।

राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप मजदूर वर्ग की सरकार के हाथ में जो उत्पादन के साधन प्राप्त होते हैं वह समाजवादी क्षेत्र के आधार का कार्य करते हैं। पूंजीपतियों के प्रमुख उद्योगों और बैंकों आदि का राष्ट्रीयकरण करने के साथ राजकीय क्षेत्र में अन्य उद्योगों का भी विकास किया जाता

है। सबसे अधिक जोर उन उद्योगों पर दिया जाता है, जिन्हें बुनियादी उद्योग कहते हैं अर्थात वह उद्योग जिनके ऊपर अन्य उद्योग निर्भर करते हैं, जैसे कि—बिजली के कारखाने, लोहा और इस्पात के कारखाने, यंत्र बनाने के कारखाने। बुनियादी उद्योगों की स्थापना समाजवादी क्षेत्र में होने से अन्य उद्योगों को समाजवादी क्षेत्र के अन्तर्गत लाने में आसानी होती है। निजी क्षेत्र का लगातार संकुचित होना और समाजवादी क्षेत्र का विस्तार-यह दोनों ही समाजवाद के विकास के लिये आवश्यक है।

लेनिन ने बताया है कि पूंजीवाद से समाजवाद के संक्रमणकाल में पतनोन्मुख पूंजीवाद और विकासोन्मुख समाज के बीच लगातार संघर्ष चलता रहता है। मजदूर-वर्ग-क्रान्ति के साथ पूंजीवाद की पराजय तो हो जाती है लेकिन उसका पूर्ण रूप से उन्मूलन नहीं होता है। इस संक्रमणकाल में, जबकि समाजवादी अर्थव्यवस्था, सामाजिक संस्थाओं और संस्कृति का निर्माण होता है, पूंजीवाद का उन्मूलन आवश्यक है।

प्रमुख-उद्योगों के समाजीकरण के बाद भी पूंजीवादी तत्वों के पनपने की सम्भावना उस समय तक रहती है जब तक कि छोटे कारीगरों अथवा दस्तकारों द्वारा निजी स्वामित्व में उत्पादन जारी रहता है। इसलिये छोटे-छोटे उद्योगों को भी समाजवादी क्षेत्र मे लाना जरूरी होता है। यह काम समाजवादी सरकारें उन उद्योगों में सहकारिता को जारी करके और उन्हें सहायता देकर पूरा करती हैं। लघु उद्योगों के बारे में अपनाई गयी नीति उससे भिन्न होती है जो बड़े उद्योगों के सम्बन्ध में ग्रहण की जाती है, फिर भी उसका उद्देश्य वही होता है।

देहात में कृषि के क्षेत्र में धनी किसान या बड़े फार्मर पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। मध्यम किसानों और छोटे किसानों की स्थिति धनी किसानों से भिन्न होती है। मध्यम किसान किसी तरह अपना गुजर बसर कर पाते हैं, उन्हें अगर कभी कुछ लाभ हो गया तो कभी उतना ही घाटा भी हो जाता है। मध्यम और छोटे किसान लघु-उत्पादकों की श्रेणी में आते हैं।

किसी प्रकार का प्रतिरोध नहीं होता है। समाजवादी देशों के इतिहास में ऐसे भी मौके आये हैं जब इस प्रतिरोध को दबाने के लिये मजदूर वर्ग के अधिनायकत्व को सख्त कदम उठाने पड़े हैं। रूस में गृहयुद्ध के दौर में जो किसानों ने जब अपना अनाज और पशुओं को नष्ट करना शुरू किया तो जनता के लिए अनाज हासिल करने के उद्देश्य से सोवियत सरकार को "युद्ध कालीन साम्यवाद" या "वार कम्युनिज्म" की नीति अख्तियार करनी पड़ी। संसार के पूंजीवादी समाचार पत्रों ने कहना शुरू कर दिया कि कम्युनिस्ट किसानों का अनाज छीन रहे हैं। इसके बाद जब परिस्थिति में सुधार हुआ और लेनिन ने उक्त नीति को छोड़कर 'नवीन अर्थ-नीति" ग्रहण की तथा किसानों के साथ व्यापार और रियायतों का मार्ग ग्रहण किया तो उन्हीं समाचार पत्रों ने कहना शुरू कर दिया कि अब कम्युनिस्टों ने अपना सिद्धान्त छोड़ दिया है।

मजदूर वर्ग के अधिनायकत्व की सरकार यदि कहीं सख्ती करने के लिए बाध्य होती है तो उसका दोष उसकी नीति पर नहीं डाला जा सकता है। इसके लिए शोषक वर्गों का प्रतिरोध ही उत्तरदायी होता है।

समाजवादी औद्योगीकरण

समाजवादी व्यवस्था के निर्माण के लिए एक भौतिक आधार की आवश्यकता है। यह भौतिक आधार तभी प्राप्त हो सकता है जबकि बड़े पैमाने के यांत्रिक उद्योगों का विकास किया जाय। समाजवादी व्यवस्था में कृषि का यंत्रीकरण भी जरूरी है और कृषि का यंत्रीकरण तभी हो सकता है जबकि बड़े उद्योगों का काफी ऊँचा विकास किया जाय।

समाजवादी औद्योगीकरण में बड़े उद्योगों को प्राथमिकता दी जाती है। सबसे अधिक जोर उन उद्योगों पर दिया जाता है जहाँ उत्पादन के साधनों का निर्माण होता है। भारी उद्योगों के आधार पर ही पूरी अर्थ-व्यवस्था में अच्छी मशीनों और प्राविधिक प्रणाली का प्रयोग किया जा

[illegible] के अन्य क्षेत्रों, सिंचाई, बीज का [illegible], पशु की [illegible] आदि में सहकारी समितियों की स्थापना होने से उत्पादन के क्षेत्र में सहकारिता को लागू करना आसान हो जाता है। यह याद रखना चाहिये कि समाजवादी सरकार किसानों को आर्थिक [illegible] सहकारिता के मार्ग में अग्रसर [illegible] सहकारी [illegible] लागू [illegible] है। यदि इसी दृष्टि से [illegible] सहकारिता के नियम का [illegible] उसी सूत्र को दुहरा लिया गया है।

समाजवादी कृषि के विकास में सबसे बड़ी सहायता मिलती है समाजवादी उद्योगों से, क्योंकि इन उद्योगों के बल पर सरकार किसानों के साथ वस्तुओं का आदान प्रदान कर सकती है। किसानों की अतिरिक्त उपज को [illegible] नहीं जाता बल्कि उसका व्यापार किया जाता है। समाजवादी औद्योगिक क्षेत्र की स्थापना से किसानों को [illegible] दैनिक आवश्यकता की वस्तुयें सुलभ हो जाती हैं [illegible] उन्नत खेती के साधन भी मिल जाते हैं।

सहकारी खेती के कारण किसानों के साधन बढ़ जाते हैं। छोटे-छोटे उत्पादक अपनी निजी पूंजी के बल पर जिन साधनों का इस्तेमाल नहीं कर सकते हैं अब उनका भी प्रयोग सहकारिता से कर सकते हैं। सरकार की ओर से सहायता के द्वारा सहकारी खेती को प्रोत्साहन दिया जाता है।

परिस्थितियों का प्रभाव

मजदूर वर्ग का अधिनायकतंत्र आम तौर से इसी नीति को मानकर चलता है कि आर्थिक व्यवस्था से पूंजीवादी तत्वों को प्रतियोगिता के द्वारा उखाड़ फेंका जाय। केवल देहात के किसान ही नहीं, शहरों के लघु-उत्पादक भी अपने अनुभव से देख लेते हैं कि उत्पादन की समाजवादी प्रणाली छोटे पैमाने पर चलने वाले उत्पादन से अधिक श्रेष्ठ और लाभदायक है। वह स्वयं ही समाजवादी प्रणाली को स्वीकार करने के लिये तैयार हो जाते हैं।

लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिये कि पूंजीवादी तत्वों की ओर

वर्गों के अभ्युदय को रोकेगा तथा उत्पादन की शीघ्र वृद्धि में सहायक होगा। इन्हीं परिस्थितियों में समाजवादी औद्योगीकरण के उपर्युक्त सिद्धान्त लागू होंगे।

सम्पत्ति के स्वरूप

किसी समाज में उत्पादन के साधनों और उत्पादन प्रक्रिया में लगे हुए मनुष्यों के बीच के सम्बन्धों के आधार पर उस समाज की व्यवस्था निर्धारित होती है। पूंजीवादी समाज में उत्पादन के साधनों पर कुछ व्यक्तियों का निजी अधिकार होता है जब कि उत्पादन करने वाले श्रमिक वर्ग का उन पर कोई अधिकार नहीं होता है। इसके विपरीत समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन के साधन समाज की सम्पत्ति होते हैं। इसका अर्थ यह है कि श्रमिक वर्ग स्वयं अपने उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है और उत्पादन प्रक्रिया में लगे हुये लोग स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माण करते हैं।

उत्पादन के साधनों का समाजीकरण होने पर जनता इन साधनों का नियंत्रण तथा उत्पादन का नियोजन अपनी सरकार (समाजवादी सरकार), अपनी पार्टी और अन्य संगठनों के द्वारा करती है। इस प्रकार समाजवादी व्यवस्था में विभिन्न वर्गों—श्रमिक, किसान, बुद्धिजीवी आदि के स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है। शोषक वर्गों—पूंजीपतियों और भूस्वामियों—का अन्त हो जाता है।

पूंजीवाद से समाजवाद के संक्रमण काल में उत्पादन के स्वरूप कई प्रकार के होते हैं और उनमें शीघ्रता से परिवर्तन होता रहता है। इस काल में एक ओर समाजवादी क्षेत्र होता है, दूसरी ओर पूंजीवादी, तीसरी ओर छोटे उत्पादकों का क्षेत्र। किन्तु अन्त में उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व स्थापित होता है और सम्पत्ति के स्वरूपों की विभिन्नता नहीं रह जाती है। सम्पत्ति का समाजवादी रूप सामने आता है।

आज सोवियत संघ में दो प्रकार की समाजवादी सम्पत्ति है—राजकीय अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति तथा सामुहिक अथवा सहकारी सम्पत्ति।

हो जाता है । अतएवं पूंजीवादी व्यवस्था का यह मौलिक नियम बदल जाता है। अब उत्पादन का लक्ष्य होता है जनता की आवश्यकताओं की अधिकाधिक पूर्ति करना ।

समाजवादी व्यवस्था मे श्रमिक वर्ग का शोषण नही होता है । उसकी सांस्कृतिक उन्नति होती है और जीवन का स्तर उच्चतर होता जाता है । इसलिये लोगो की आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं। समाजवादी व्यवस्था मे उत्पादन की प्राविधिक प्रणाली में सुधार करके उत्पादन की वृद्धि की जाती है ताकि जनता की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की अधिकाधिक पूर्ति की जा सके और लोगो के जीवन को सभी प्रकार से सुन्दर बनाया जा सके । यह समाजवादी व्यवस्था का मौलिक आर्थिक नियम है ।

नियोजित अर्थव्यवस्था

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में अराजकता और संकट का उल्लेख पहले किया जा चुका है । पूंजीवाद में प्रतियोगिता के द्वारा विभिन्न उद्योगो के उत्पादन तथा वस्तुओ के मूल्य मे सामंजस्य स्थापित होता है । इस प्रक्रिया में उत्पादन के साधनों का भयंकर विनाश होता है ।

समाजवादी अर्थव्यवस्था इस प्रकार स्वतः स्फूर्त ढंग से नहीं चलती है। नियोजन उसका एक मौलिक नियम है । नियोजन के द्वारा विभिन्न उद्योगो के बीच का उचित अनुपात स्थिर किया जाता है । यह अनुपात उत्पादन की प्रगति के साथ बदलता रहता है परन्तु नियोजन मे इसका ध्यान न रखने पर पूरी अर्थ व्यवस्था मे गड़बड पैदा हो सकती है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था मे आर्थिक केन्द्रीयकरण अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है । केन्द्रीयकरण न होने पर विभिन्न उद्योगो में स्थानीयता की भावना पैदा होने का भय है और पूरे समाज के हित पीछे छूट जायेंगे। किन्तु केन्द्रीयकरण का अर्थ यह कदापि नहीं है कि विभिन्न क्षेत्रों की सुविधा का ध्यान न रखा जाय अथवा उनकी विशेष क्षमता का उपयोग न किया जाय । अतएव केन्द्रीयकरण के साथ जनवादी तरीके से भी काम लेना

राजकीय अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति समाजवादी सम्पत्ति का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है किन्तु सामूहिक अथवा सहकारी सम्पत्ति के साथ उसका कोई विरोध नहीं है। मौलिक रूप से दोनों की गणना समाजवादी सम्पत्ति के अन्तर्गत होती है। सहकारी समितियों का निर्माण पूंजीवादी देशों में भी होता है किन्तु वहां यह समितियां समाजवादी सम्पत्ति को जन्म नहीं देती है बल्कि पूंजीवादी सम्पत्ति के विकास में सहायक होती है। समाजवादी देशों में राजसत्ता मजदूरों और किसानों के हाथ में रहती है और उत्पादन प्रमुख रूप से समाजवादी क्षेत्र में होता है अतएव सहकारी समितियां समाजवाद के विकास में सहायक होती हैं।

यहां यह देखना भी जरूरी है कि राष्ट्रीयकरण उत्पादन के बुनियादी साधनों का होता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति समाजवाद के दौर में भी कायम रहती है। इस व्यक्तिगत सम्पत्ति (परसनल प्रापर्टी) की उत्पत्ति समाजवाद के उस नियम के कारण होती है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार काम करता है और उसे उसके काम के अनुसार प्राप्त होता है। लोग अपने प्राप्त वेतन को बचत के रूप में बैंक में जमा कर सकते हैं। सामूहिक खेती करने वाले किसानों के अपने मकान होते हैं; वह अपनी थोड़ी सी जमीन पर व्यक्तिगत रूप से खेती कर सकते हैं। अपनी व्यक्तिगत आवश्यकता के लिए लोग वस्तुयें खरीद सकते हैं, जैसे रेडियो वगैरह, और यह वस्तुयें उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति हो जाती हैं। किन्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति की सीमा होती है और उसका इस्तेमाल दूसरों का शोषण करने के लिए नहीं किया जा सकता है।

समाजवाद का मौलिक नियम

पूंजीवादी समाज में उत्पादन का लक्ष्य होता है पूंजीपतियों के लिए अधिक से अधिक मुनाफे का प्रवन्ध करना। इस लिए हम कहते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था का मौलिक नियम है—लाभ कमाना।

समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व

हो जाता है। अतएव पूँजीवादी व्यवस्था का यह मौलिक नियम बदल जाता है। अब उत्पादन का लक्ष्य होता है जनता की आवश्यकताओं की अधिकाधिक पूर्ति करना।

समाजवादी व्यवस्था में श्रमिक वर्ग का शोषण नहीं होता है। उसकी निरन्तर उन्नति होती है और जीवन का स्तर उच्चतर होता जाता है। इसलिये लोगों की आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं। समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन की प्राविधिक प्रणाली में सुधार करके उत्पादन की वृद्धि की जाती है ताकि जनता की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की अधिकाधिक पूर्ति की जा सके और लोगों के जीवन को सभी प्रकार से सुन्दर बनाया जा सके। यह समाजवादी व्यवस्था का मौलिक आर्थिक नियम है।

नियोजित अर्थव्यवस्था

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में अराजकता और संकट का उल्लेख पहले किया जा चुका है। पूँजीवाद में प्रतियोगिता के द्वारा विभिन्न उद्योगों के उत्पादन तथा वस्तुओं के मूल्य में सामञ्जस्य स्थापित होता है। इस प्रक्रिया में उत्पादन के साधनों का भयंकर विनाश होता है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था इस प्रकार स्वतः स्फूर्त ढंग से नहीं चलती है। नियोजन उसका एक मौलिक नियम है। नियोजन के द्वारा विभिन्न उद्योगों के बीच का उचित अनुपात स्थिर किया जाता है। यह अनुपात *उत्पादन की प्रगति के साथ बदलता रहता है परन्तु नियोजन में इसका ध्यान* न रखने पर पूरी अर्थ व्यवस्था में गड़बड़ पैदा हो सकती है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक केन्द्रीयकरण अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। केन्द्रीयकरण न होने पर विभिन्न उद्योगों में स्थानीयता की भावना पैदा होने का भय है और पूरे समाज के हित पीछे छूट जायेंगे। किन्तु केन्द्रीयकरण का अर्थ यह कदापि नहीं है कि विभिन्न क्षेत्रों की सुविधा का ध्यान न रखा जाय अथवा उनकी विशेष क्षमता का उपयोग न किया जाय। *अतएव केन्द्रीयकरण के साथ जनवादी तरीके से भी काम लेना*

आवश्यक होता है। संक्षेप में समाजवादी नियोजन जनवादी केन्द्रीयता के सिद्धान्त के आधार पर होता है।

केवल नियोजन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना काफी नहीं होता है। यदि नियोजन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से काम न लिया जाय और अर्थ व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में सही-सही हिसाब किताब न रखा जाय और नियंत्रण न रखा जाय तो नियोजन सफल नहीं हो सकता। नियोजन की सफलता के लिये यह भी ध्यान देना आवश्यक है कि उत्पादन की शक्तियों के एक भाग के रूप में मनुष्य की श्रम-शक्ति का किस प्रकार अच्छे से अच्छे ढंग से उपयोग किया जाय। समाजवादी सरकार नियोजन के तरीकों में लगातार सुधार करती रहती है।

वस्तु-उत्पादन—मूल्य का नियम—व्यापार

समाजवादी अर्थ व्यवस्था में उत्पादन के साधनों का निजी स्वामित्व समाप्त हो जाता है। पूँजीपति वर्ग नहीं रहता है और छोटे छोटे उत्पादक भी नहीं रहते हैं। किन्तु वस्तु-उत्पादन की प्रणाली कायम रहती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वस्तु उत्पादन का अर्थ है बाजार में बेचने के लिए उत्पादन। वस्तु में दो गुण होते हैं—उपयोगिता और विनिमय मूल्य। पूंजीपति को मुख्यतः वस्तुओं के विनिमय मूल्य से सम्बन्ध रहता है क्योंकि उसका उद्देश्य होता है लाभ प्राप्त करना। समाजवादी व्यवस्था में वस्तुओं के दोनों प्रकार के मूल्य की ओर बराबर ध्यान दिया जाता है—उनके उपयोगिता मूल्य और विनिमय-मूल्य दोनों की ओर।

वस्तुओं के विनिमय का माध्यम मुद्रा है। मुद्रा और वस्तु का सम्बन्ध समाजवाद में चला करता है। सामाजिक उत्पादन में काम करने वालों को काम के बदले में मुद्रा प्राप्त होती है और वह मुद्रा देकर वस्तुयें प्राप्त करते हैं। उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के बीच भी वस्तुओं का आदान प्रदान मुद्रा के माध्यम से होता है। यदि किसी सामुहिक फार्म से अनाज लिया

जाता है तो उसके बदले में फार्म को मुद्रा प्राप्त होती है और उस मुद्रा के द्वारा सामूहिक फार्म अपनी आवश्यकता की वस्तुयें प्राप्त करता है।

मुद्रा और वस्तु के सम्बन्ध से लोगों को श्रम करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। यह राज्य के हाथ मे समाजवादी अर्थ व्यवस्था को मजबूत करने का एक साधन होता है।

वस्तु-उत्पादन के साथ मूल्य के नियम का सम्बन्ध है। समाजवाद मे वस्तुओं का मूल्य उनमे लगे हुए सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम के द्वारा निर्धारित होता है किन्तु मूल्य के नियम की वह भूमिका नहीं रह जाती है जो पूँजीवाद के युग में रहती है। पूजीवादी व्यवस्था में मूल्य का नियम स्वतन्त्र ढग से निश्चित कर देता है कि किन उद्योगो मे कितनी पूँजी लगेगी, किन्तु समाजवाद के अन्तर्गत विभिन्न उद्योगों में पूजी का बँटवारा नियोजन के द्वारा होता है जिसमे उद्योगो के बीच के अनुपात पर ध्यान रखा जाता है।

समाजवाद में वस्तुओं के दाम उनके मूल्य के अनुसार तय होते हैं, किन्तु यह दाम पहले से एक योजना के मातहत निश्चित किये जाते है। बाजार में जाकर वस्तुओं का मूल्य निश्चित नही होता है वरन् उत्पादन के क्षेत्र में ही निश्चित होता है।

मूल्य के नियम का प्रभाव यह होता है कि उत्पादन की सभी मात्राओं में लागत व्यय कम करने की कोशिश की जाती है। लागत व्यय को कम करने का तरीका है यांत्रिक और प्राविधिक सुधार, कच्चे माल का अधिक अच्छा उपयोग करना और अन्य तरीकों से कम श्रम के द्वारा अधिक वस्तुयें तैयार करना। लागत व्यय को कम करके उत्पादन को अधिक लाभप्रद बनाया जा सकता है।

जब हम उत्पादन को लाभप्रद बनाने की बात करते हैं तो उससे समाजवाद के नियमों का खण्डन नही होता है। समाजवादी उद्योगों में भी

कहा जा सकता है कि मजदूरों का वेतन उत्पादन के अनुपात में बढ़ेगा उत्पादन से अधिक नहीं बढ़ सकता है। इस परिस्थिति में श्रमिकगण स्वयं उत्पादन बढ़ाने में रुचि रखते हैं।

उत्पादन वृद्धि की दृष्टि से समाजवादी व्यवस्था को एक सुविधा यह प्राप्त है कि उसमें श्रम का सामाजिक विभाजन नियोजित ढंग से हो सकता है। पूंजीवाद में बाजार की परिस्थितियों के आधार पर स्वयं-स्फूर्त ढंग से विभिन्न उद्योगों के बीच पूंजी का वितरण होता है। यदि बाजार में वस्तुओं की मांग कम हो गयी और आर्थिक संकट आ गया तो पूंजीपति वर्ग उत्पादन घटाने में दिलचस्पी लेता है। समाजवाद में संकटों के भय से छुटकारा मिल जाता है इसलिये उत्पादन गिराने या उत्पादन के साधनों को नष्ट करने की आवश्यकता नहीं उत्पन्न होती है।

श्रम की उत्पादकता को बढ़ाने के लिए समाजवाद में लगातार विज्ञान की उन्नति पर जोर दिया जाता है ताकि उत्पादन के साधनों को सुधारने के लिए उसका उपयोग किया जा सके। मजदूरों की शिक्षा और जीवन स्थिति के सुधार की ओर ध्यान दिया जाता है ताकि वह अधिक कार्य-कुशल हो जायें। इसके साथ साथ उत्पादन प्रक्रिया में सामयिक रूप से अनुकूल परिवर्तन किये जाते हैं।

परिवर्द्धित पुनरोत्पादन

मार्क्स ने बताया कि पुनरोत्पादन दो प्रकार का होता है—साधारण पुनरोत्पादन और परिवर्द्धित अथवा विस्तारित पुनरोत्पादन। पुनरोत्पादन पर प्रकाश डालते हुये उन्होंने यह भी कहा कि सामाजिक उत्पादन के दो विभाग होते हैं। प्रथम विभाग में उत्पादन के साधन आते हैं और द्वितीय विभाग में उपभोक्ता वस्तुयें आती हैं। इन्हीं दोनों विभागों के पारस्परिक

अनुपात के आधार पर निश्चित होता है कि पुनरोत्पादन किस प्रकार का है। परिवर्द्धित पुनरोत्पादन में प्रथम विभाग के उत्पादन का अनुपात द्वितीय विभाग की तुलना में लगातार बढ़ता जाता है, प्रथम विभाग के उत्पादन को प्राथमिकता दी जाती है।

समाजवाद में परिवर्द्धित पुनरोत्पादन होता है। किन्तु समाजवाद के परिवर्द्धित पुनरोत्पादन और पूँजीवाद के परिवर्द्धित पुनरोत्पादन में मौलिक अन्तर है। समाजवादी परिवर्द्धित पुनरोत्पादन बाजार की उथल पुथल और अराजकता के द्वारा नहीं निर्धारित होता है बल्कि उसमें दोनों विभागों के बीच का अनुपात एक योजना के माध्यम निश्चित किया जाता है।

पूँजीवाद में राष्ट्रीय आय का एक भाग पूँजीपतियों के पास चला जाता है और वह उसका इस्तेमाल अपने ऐश-आराम के लिए करते हैं। समाजवाद में राष्ट्रीय आय का अपव्यय रुक जाता है और उसे परिवर्द्धित पुनरोत्पादन में लगाया जा सकता है। समाजवाद में परिवर्द्धित पुनरोत्पादन की सम्भावना बढ़ जाती है।

पूँजीवाद में परिवर्द्धित पुनरोत्पादन का लक्ष्य पूँजीपति वर्ग के लाभ को बढ़ाना होता है। समाजवाद में उससे पूरे समाज को लाभ होता है। मेहनतकश जनता की खुशहाली बढ़ती जाती है। फलतः समाजवाद में आर्थिक संकट नहीं आते हैं। परिवर्द्धित पुनरोत्पादन से समाजवादी व्यवस्था सतत रूप से शक्तिशाली होती जाती है जबकि पूँजीवाद में परिवर्द्धित पुनरोत्पादन के फलस्वरूप आन्तरिक अन्तर्विरोध तीव्र हो जाते हैं और सामाजिक व्यवस्था कमजोर पड़ती जाती है।

सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तनों के साथ साथ परिवर्द्धित पुनरोत्पादन का स्वभाव भी बदल जाता है। इस तथ्य को हमेशा दृष्टिगत रखना चाहिए।

आज समाजवादी अर्थव्यवस्था संसार के कई देशों में स्थापित हो चुकी है। इस प्रकार समाजवाद ने एक विश्व व्यवस्था का रूप धारण कर लिया है। समाजवादी देशों के आर्थिक सम्बन्ध एक ओर तो आपस में अर्थात् अन्य समाजवादी देशों से कायम होते हैं दूसरी ओर उनके आर्थिक सम्बन्ध पूंजीवादी देशों के साथ भी कायम होते हैं।

समाजवादी देशों के पारस्परिक आर्थिक सम्बन्धों का क्या आधार होगा इसका उल्लेख ८२ कम्युनिस्ट पार्टियों के मास्को घोषणापत्र में किया गया है। इस घोषणापत्र में कहा गया है कि समाजवादी देशों के आपसी आर्थिक सम्बन्धों का आधार होगा पारस्परिक सहयोग और सहायता। जिन देशों में समाजवादी व्यवस्था अधिक सुदृढ़ हो गयी है वह नये और पिछड़े हुए समाजवादी देशों की सहायता करते हैं, उन्हें आर्थिक और प्राविधिक सहायता पहुँचाते हैं। समाजवादी देशों में वैज्ञानिक जानकारी का आदना प्रदान चलता रहता है जिससे उन्हें प्रगति करने में आसानी हो जाती है।

समाजवादी देश इस सिद्धान्त को भी मानते हैं कि उन्हें आपस में श्रम का विभाजन करना चाहिए और अपने उद्योगों के बीच में उचित अनुपात कायम करना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार हर देश को उन उद्योगों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए जिनका विकास वह अधिक सुविधा के साथ कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन का लक्ष्य होगा समाजवादी देशों के साधनों को बचाना और उनका अधिक सदुपयोग करना। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रत्येक देश केवल कुछ वस्तुओं के उत्पादन में विशेषता प्राप्त करे और पिछड़े हुये देशों का सर्वाङ्गीन आर्थिक विकास न हो तथा वह उन्नत देशों के ऊपर निभर हो जायँ।

समाजवादी देशों के आर्थिक सम्बन्धों में व्यापार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह आपस में व्यापार करते हैं और वस्तुओं के दाम उनके अन्तर्राष्ट्रीय

तों के अनुसार तय करते हैं। यहाँ भी पूँजीवादी देशों के साथ उनका अन्तर देखा जा सकता है क्योंकि समाजवादी देश जब अपनी वस्तुओं का मूल्य निश्चित करते हैं तो पूँजीवादी देशों की तरह उनके दामों पर शेयर-बाजार का असर नहीं पड़ता है। इन दामों में स्थिरता होती है और उन पर आर्थिक संकटों के प्रभाव का खतरा नहीं रहता है।

पूँजीवादी देशों के साथ समाजवादी देशों के सम्बन्ध दूसरे प्रकार के भी हैं। पूँजीवादी देश भी दो प्रकार के हैं—एक तो आगे बढ़े हुए साम्राज्यवादी देश हैं जहाँ एकाधिकारी पूँजी का बोलबाला है और दूसरी ओर वह पिछड़े देश हैं जो अपनी स्वाधीनता की रक्षा करना चाहते हैं और साम्राज्यवादी शासन से मुक्त होकर अपनी अर्थ व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं। प्रथम श्रेणी के उन्नत पूँजीवादी देशों के साथ समाजवादी देश व्यापारिक और औद्योगिक प्रतियोगिता करते हैं तथा उनकी पूँजीवादी व्यवस्था को परास्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। पिछड़े हुए पूँजीवादी देशों की ओर मित्र दृष्टिकोण से काम लिया जाता है। समाजवादी देश उनको सब सम्भव सहायता प्रदान करते हैं ताकि वह स्वतंत्र रूप से अपनी आर्थिक व्यवस्था का निर्माण कर सकें। संक्षेप में पूँजीवादी देशों के प्रति समाजवादी देशों की यही आर्थिक नीति होती है।

× × × ×

समाजवाद से साम्यवाद में संक्रमण

समाजवादी व्यवस्था में भी परिवर्तन होना अनिवार्य है। उसमें गतिरोध नहीं हो सकता है। समाजवाद स्वयं एक संक्रमणकालीन व्यवस्था है। इसे पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच की सीढ़ी कहना चाहिए। पूँजीवाद से

साम्यवाद तक जाने के लिए सभी देशों को अनिवार्य रूप से समाजवाद की सीढ़ी पार करनी होगी यद्यपि समाजवादी व्यवस्था में आने के लिए पूंजीवाद के बीच से गुजरना अनिवार्य नहीं रहा है। मंगोलियाई गणतंत्र जैसे देश ने पूंजीवाद में पदार्पण किये बगैर ही समाजवाद का निर्माण कर लिया है।

समाजवाद और साम्यवाद—यह दोनों एक दूसरे की विरोधी व्यवस्थायें नहीं है जिस प्रकार कि पूंजीवाद और समाजवाद हैं। पूंजीवादी व्यवस्था के समर्थक समाजवाद का विरोध करते हैं और उसको रोकने की चेष्टा करते हैं। इसलिये इन दोनों व्यवस्थाओं के समर्थकों के बीच संघर्ष होता है। समाजवाद से साम्यवाद में जाने के लिये संघर्ष या उग्र सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता नही होगी। समाजवाद से साम्यवाद में संक्रमण पूरे समाज के हित में होगा। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि समाजवाद से साम्यवाद में संक्रमण की प्रक्रिया क्रमशः चलेगी।

अभी तक विश्व का केवल एक ऐसा देश है जहाँ समाजवाद का निर्माण हो चुका है और जिसने अब साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना का लक्ष्य अपने सामने रखा है। यहाँ अभी साम्यवादी व्यवस्था का निर्माण शुरू हुआ है इसलिए साम्यवाद के पूरे आर्थिक नियमों की जानकारी हासिल करना अभी सम्भव नहीं है। फिर भी मार्क्सवाद-लेनिनवाद ने साम्यवादी व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ मान्यताओं को स्वीकार किया है जिनका उल्लेख करना जरूरी है।

साम्यवाद लगभग साथ-साथ आयेगा

पूंजीवाद का विकास विभिन्न देशों में साथ-साथ नहीं हुआ था। लेनिन ने पूंजीवाद के विकास की असमानता को दिखाते हुए कहा था कि भविष्य में समाजवादी क्रान्तियाँ भी साथ साथ नहीं होंगी, उनके समय में

काफी अन्तर हो सकता है। यही हुआ भी। सोवियत संघ और अन्य देशो की क्रान्ति में लगभग ३० वर्ष का अन्तर था। उनमें समाजवाद की स्थापना भी बहुत आगे पीछे हुई। लेकिन समाजवाद से साम्यवाद में संक्रमण के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की धारणा यह है कि सभी समाजवादी देश कमोबेश साथ साथ साम्यवाद स्थापित करेंगे। मास्को में होने वाले ८१ कम्युनिस्ट पार्टियों के सम्मेलन के घोषणा पत्र मे कहा गया है :—

"समाजवादी विश्व आर्थिक व्यवस्था उत्पादन के एक जैसे समाजवादी सम्बन्धो से संयुक्त है और समाजवाद के आर्थिक नियमों के आधार पर विकसित हो रही है। इसके सफल विकास के लिए जरूरी है कि समाजवादी निर्माण मे नियोजित, आनुपातिक विकास के नियमों को लगातार लागू किया जाय, जनता की सृजनात्मक पहल कदमी को बढ़ावा दिया जाय, राष्ट्रीय आर्थिक योजनाओ के समन्वय के जरिये अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन की प्रणाली मे लगातार सुधार किये जायें, विश्व समाजवादी व्यवस्था में स्वेच्छित सहयोग, पारस्परिक लाभ और वैज्ञानिक व प्राविधिक स्तरों में जबर्दस्त सुधार के आधार पर उत्पादन मे विशेषज्ञता और सहयोग को लागू किया जाय। इसके लिये जरूरी है कि सामूहिक अनुभव का अध्ययन किया जाय; एक दूसरे के सहयोग और बन्धुत्वपूर्ण पारस्परिक सहायता को बढ़ाया जाय; इस आधार पर आर्थिक विकास के स्तरो की ऐतिहासिक भिन्नता को धीरे-धीरे खत्म किया जाय, समाजवादी व्यवस्था के सभी जनगण के कम्युनिज्म की ओर लगभग एक साथ संक्रमण के लिए भौतिक आधार तैयार किये जायें।"

साम्यवाद का आर्थिक आधार

साम्यवाद की परिभाषा करते हुए पीछे बताया जा चुका है कि साम्यवाद मे प्रत्येक मनुष्य अपनी योग्यता के अनुसार काम करेगा और उसे उसकी आवश्यकता के अनुसार मिलेगा। इसका अर्थ है कि साम्यवादी

व्यवस्था में समाज के सभी सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति होगी। स्वभावतः इस प्रकार की व्यवस्था का आर्थिक आधार उत्पादन के साधनों के अत्यन्त उच्च विकास के ऊपर ही हो सकता है। उत्पादन के साधनों की उन्नति के बिना समाज में आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन इस सीमा तक नहीं ले जाया जा सकता है जहाँ सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।

साम्यवाद की स्थापना के लिए श्रम की उत्पादकता में और भी अधिक वृद्धि आवश्यक है। इसके लिए यंत्रों में सुधार करना होगा और अभी जिन उत्पादन प्रक्रियाओं के लिए यंत्र नहीं हैं उनके लिये भी यंत्र लागू करने होंगे। यांत्रिक सुधार के लिए स्वचालित यंत्रों का लक्ष्य सामने रखना प्रत्येक समाजवादी देश के लिए जरूरी है ताकि वह समाजवाद से आगे बढ़ कर साम्यवाद की मंजिल में प्रवेश कर सके। आर्थिक व्यवस्था के सभी क्षेत्रों में यंत्रों का लाभ उठाने के लिए बड़े पैमाने पर विद्युत शक्ति की जरूरत होती है। अब आणविक शक्ति का प्रयोग विद्युत् शक्ति की आवश्यकता को पूरा करने में सहायक होगा। उत्पादन के साधनों की वृद्धि के लिए अनेक प्राकृतिक वस्तुओं की जगह पर मानव द्वारा निर्मित वस्तुओं से काम लेना होगा। इस तरह कच्चे माल की कमी दूर होगी। रसायन-शास्त्र ने इस दिशा में काफी प्रगति कर ली है और अनेक वस्तुओं का कृत्रिम उत्पादन होने लगा है। भविष्य में इस प्रकार की वस्तुयें और भी बड़े पैमाने पर बनेंगी।

उत्पादन वृद्धि के लिए यांत्रिक और प्राविधिक उन्नति के साथ साथ उत्पादन प्रक्रिया के संगठन की भी आवश्यकता होती है। भविष्य में उत्पादन के संगठन में लगातार सुधारों की आवश्यकता होगी। इसके द्वारा [illegible] किया जा सकेगा।

शोषक वर्गों को समाज में विशेष सुविधा प्राप्त रहती है। समाजवाद में शोषक वर्गों का अन्त हो जाता है। इस लिए वर्गों का विरोध भी समाप्त हो जाता है। फिर भी समाज में वर्ग रहते है, मजदूर और किसान होते हैं तथा बुद्धिजीवी वर्ग भी होता है। इन वर्गों की सामाजिक स्थिति में भिन्नता होती है। साम्यवाद में यह वर्गीकरण भी समाप्त हो जायगा।

वैज्ञानिक उन्नति के साथ मशीनों का सुधार सम्बन्धित है। उन्नत यंत्रों के संचालन के लिए मजदूरों में वैज्ञानिक शिक्षा होनी चाहिये। इसके साथ साथ स्वचालित यंत्रों का प्रयोग मजदूरों के शारीरिक श्रम को कम कर देगा क्योंकि उनका काम मुख्यतः स्व-चालित मशीनों का नियंत्रण करना रह जायगा।

पूंजीवाद में शहर और गांव के बीच एक अन्तर्विरोध चला करता है। समाजवाद में शहर और गांव के बीच कोई विरोध नहीं रहता है किन्तु फिर भी शहर और गांव में अन्तर रहता है। यह अन्तर विशेषतः सांस्कृतिक क्षेत्र में तथा जीवन की सुविधाओं में दृष्टिगोचर होता है। साम्यवाद में कृषि उत्पादन में यंत्रों का पूरी तरह प्रचलन हो जायगा, जिससे किसानों के काम के ढंग में मौलिक परिवर्तन हो जायगा। अब कृषि भी अन्य उद्योगों की तरह एक उद्योग बन जायगी। काम के तरीकों का भेद मिट जाने से शहर और गांव का भेद खतम होगा।

समाजवाद में दो प्रकार की सामाजिक सम्पत्ति रहती है—राजकीय सम्पत्ति और सहकारी सम्पत्ति। पहले कहा जा चुका है कि राजकीय सम्पत्ति समाजवादी सम्पत्ति का उच्चतर स्वरूप है। यद्यपि सहकारी सम्पत्ति का राजकीय सम्पत्ति में कोई विरोध नहीं होता है किन्तु सहकारी सम्पत्ति पूंजीवादी युग की निजी सम्पत्ति के अवशेष के रूप में रहती है। साम्यवाद में सम्पत्ति का यह विभेद समाप्त हो जायगा और एकमात्र सामाजिक सम्पत्ति शेष रह जायगी। सामाजिक विभेद को समाप्त करने के लिए सम्पत्ति का विभेद समाप्त होना चाहिये।

बढ़ जाने और सामाजिक सम्पदा के सभी स्रोतों के अधिक वेग से प्रवाहमान होने के बाद—केवल तब जाकर ही पूंजीवादी अधिकार के संकीर्ण क्षितिज को पूर्णतः लांघा जा सकेगा और समाज अपनी पताकाओं पर अंकित कर सकेगा : "हर किसी से उसकी योग्यतानुसार, हर किसी को उसकी आवश्यकतानुसार !"

× × × ×

जब मार्क्स ने उपर्युक्त शब्द लिखे थे उस समय समाजवाद एक स्वप्न था। आज समाजवाद ने एक विश्व व्यवस्था का रूप धारण कर लिया है। जिन देशों में अभी तक पूंजीवाद कायम है, जैसे कि हमारे देश में, वहां की जनता भी समाजवाद की ओर अग्रसर हो रही है। वह दिन अधिक दूर नहीं है जबकि पूरे विश्व में एक ही व्यवस्था होती—समाजवादी व्यवस्था। समाजवाद निश्चित रूप से मानवता को अपनी मंजिल की ओर ले जायगा—साम्यवाद की ओर।

नवीन मानव का उदय

साम्यवाद के युग में श्रम की ओर मनुष्य का दृष्टिकोण मौलिक रूप से परिवर्तित हो जायगा। मनुष्य अपने समाज का प्रबन्ध जोर-जबर्दस्ती के आधार पर नहीं वरन् स्वेच्छा के आधार पर करेंगे। मनुष्य श्रम को अपने जीवन की आवश्यकता के रूप में देखेंगे। मनुष्य को अपने जीवन-यापन के लिए कम से कम श्रम करना पड़ेगा और उसे अपने सांस्कृतिक उत्थान का अधिकतम अवसर प्राप्त होगा। इस युग में शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम के बीच का अन्तर मिट जायगा। यंत्रों की उन्नति और उनके उपयोग के कारण श्रम के अनेक रूप जिन्हें आज हेय समझा जाता है वह भी समान रूप से सम्माननीय हो जायेंगे।

साम्यवाद में नारी जाति को पूर्ण अर्थ में समानता का अधिकार मिलेगा। समाजवाद में स्त्रियों को समान रूप से काम और वेतन का अधिकार प्राप्त होता है किन्तु जब तक घर-गृहस्थी के कामों का बोझ हलका नहीं होता तब तक नारी जाति के जीवन मे पूर्ण रूप से समानता नहीं लाई जा सकती है। साम्यवाद में न केवल यंत्रों के उपयोग से बल्कि जीवन के सामुहिक संगठन के फलस्वरूप गृहस्थी का बोझ स्त्रियों के लिए कष्टदायक नहीं रह जायगा।

साम्यवाद में मानव का जीवन कैसा होगा और इस युग का नवीन मानव किस प्रकार का होगा इसका चित्र मार्क्स के निम्नलिखित उद्धरण से मिलता है :—

"कम्युनिस्ट समाज की उच्चतर अवस्था में, व्यक्ति की श्रम-विभाजन के प्रति दासत्वपूर्ण अधीनता और उसी के साथ साथ मानसिक तथा शारीरिक श्रम के अन्तर्विरोध का लोप हो जाने के बाद, श्रम के जीवन के मात्र एक साधन ही नहीं, प्रत्युत जीवन की सर्वोपरि आवश्यकता बन चुकने के बाद; व्यक्ति के सर्वाङ्गीण विकास के साथ-साथ उत्पादक शक्तियों के भी

नवीन मानव का उदय

साम्यवाद के युग में श्रम की ओर मनुष्य का दृष्टिकोण मौलिक रूप से परिवर्तित हो जायगा। मनुष्य अपने समाज का प्रबन्ध जोर-जबर्दस्ती के आधार पर नहीं वरन् स्वेच्छा के आधार पर करेंगे। मनुष्य श्रम को अपने जीवन की आवश्यकता के रूप में देखेंगे। मनुष्य को अपने जीवन-यापन के लिए कम से कम श्रम करना पड़ेगा और उसे अपने सांस्कृतिक उत्थान का अधिकतम अवसर प्राप्त होगा। इस युग में शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम के बीच का अन्तर मिट जायगा। यंत्रों की उन्नति और उनके उपयोग के कारण श्रम के अनेक रूप जिन्हें आज हेय समझा जाता है वह भी समान रूप से सम्माननीय हो जायेंगे।

साम्यवाद में नारी जाति को पूर्ण अर्थ में समानता का अधिकार मिलेगा। समाजवाद में स्त्रियों को समान रूप से काम और वेतन का अधिकार प्राप्त होता है किन्तु जब तक घर-गृहस्थी के कामों का बोझ हलका नहीं होता तब तक नारी जाति के जीवन मे पूर्ण रूप से समानता नहीं लाई जा सकती है। साम्यवाद में न केवल यंत्रों के उपयोग से बल्कि जीवन के सामुहिक संगठन के फलस्वरूप गृहस्थी का बोझ स्त्रियों के लिए कष्टदायक नहीं रह जायगा।

साम्यवाद में मानव का जीवन कैसा होगा और इस युग का नवीन मानव किस प्रकार का होगा इसका चित्र मार्क्स के निम्नलिखित उद्धरण से मिलता है :—

"कम्युनिस्ट समाज की उच्चतर अवस्था में, व्यक्ति की श्रम-विभाजन के प्रति दासत्वपूर्ण अधीनता और उसी के साथ साथ मानसिक तथा शारीरिक श्रम के अन्तर्विरोध का लोप हो जाने के बाद, श्रम के जीवन के मात्र एक साधन ही नहीं, प्रत्युत जीवन की सर्वोपरि आवश्यकता बन चुकने के बाद; व्यक्ति के सर्वाङ्गीण विकास के साथ-साथ उत्पादक शक्तियों के भी

बढ़ जाने और सामाजिक सम्पदा के सभी स्रोतों के अधिक वेग से प्रवाहमान होने के बाद—केवल तब जाकर ही पूंजीवादी अधिकार के सकीर्ण क्षितिज को पूर्णतः लांघा जा सकेगा और समाज अपनी पताकाओं पर अंकित कर सकेगा : "हर किसी से उसकी योग्यतानुसार, हर किसी को उसकी आवश्यकतानुसार।"

× × × ×

जब मार्क्स ने उपर्युक्त शब्द लिखे थे उस समय समाजवाद एक स्वप्न था। आज समाजवाद ने एक विश्व व्यवस्था का रूप धारण कर लिया है। *जिन देशों में अभी तक पूंजीवाद कायम है, जैसे कि हमारे देश में, वहाँ की* जनता भी समाजवाद की ओर अग्रसर हो रही है। वह दिन अधिक दूर *नहीं है जबकि पूरे विश्व में एक ही व्यवस्था होगी—समाजवादी व्यवस्था।* समाजवाद निश्चित रूप से मानवता को अगली मंजिल की ओर ले जायगा—साम्यवाद की ओर।

● ●